(सर्वाधिकार सुरक्षित)

http://www.jainkosh.org

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पञ्चास्तिकाय प्रवचन

चतुर्थ, पंचम व षष्ठ भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७५ लागत [१३) रु०

Version 1

सहजानंद शास्त्रमाला

पंचास्तिकाय संग्रह प्रवचन

भाग-5

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

आत्म-कीर्तन

http://www.jainkosh.org

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
सुनजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

ooooOoooo

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पञ्चास्तिकाय प्रवचन पंचम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ॥१०५॥

नव पदार्थोंके वर्णनका संकल्प—अपुनर्भवके कारणभूत श्री महावीर भगवानको अभिनन्दन करके अब पूर्ववर्णित ५ अस्तिकायोंके पदार्थोंका भंग अर्थात् ९ पदार्थोंके रूपसे विस्तार और मोक्षके मार्गको कहूंगा। प्रथम अधिकारमें षड्द्रव्य और ५ अस्तिकायोंके स्वरूपका प्रतिपादन किया था और उस प्रतिपादनके माध्यमसे विवेकी ज्ञानी संतपुरुषोंको शुद्ध तत्त्वकी बात कही थी। अब इस ही शुद्ध आत्मतत्त्वका कैसे अवतार हो, कैसे इसकी उपलब्धि हो, इसका मार्ग कहा जायगा। और वह मोक्षका मार्ग ९ पदार्थोंके विवरणके रूपसे कहा जायगा। इस गाथामें आप्त भगवान श्री महावीर स्वामीका स्तवनपूर्वक इस ही बातकी प्रतिज्ञा की गई है।

अपुनर्भवके कारण श्री महावीर भगवान—भगवान महावीर स्वामी अपुनर्भवके कारणभूत हैं। अर्थात् इस समय जो यह महाधर्मतीर्थ प्रवर्तमान हो रहा है उसका मूलकर्ता भगवान महादेवाधिदेव श्री वर्द्धमान स्वामी हैं। इन प्रभुकी भावस्तुति इसमें की गई है। अपुनर्भव नाम है फिरसे संसारमें न आना। अ मायने नहीं, पुनर् मायने फिरसे, भव मायने संसार। अब फिरसे संसारमें नहीं आना है ऐसी स्थितिका नाम है अपुनर्भव। ये प्रभु इस अपुनर्भवके स्वयं कारण हैं और भव्य जीवोंको अपुनर्भव मिले, संसारसंकटोंसे मुक्ति मिले, इसका भी यह निमित्त कारण है, क्योंकि महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे और द्वादशांगकी रचना होनेकी परम्परामें यह आज जो कुछ भी द्रव्यकी चर्चा, वस्तुका स्वरूप मिल रहा है उस ही परम्पराकी देन है। ऐसे अपुनर्भवके कारणभूत भगवान महावीर स्वामीको सिरसे अभिवादन करते हैं।

संकटमोचन उपायकी आवश्यकता—भैया! सदाके लिए शंकायें दूर हो जायें, सदा के लिए संकट समाप्त हो जायें, ऐसा उपाय करना अच्छी बात है या नहीं? उत्तर तो यही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सब कोई देंगे कि यह तो बड़ी अच्छी बात है कि संसारके संकट सदाके लिए समाप्त हो जायें। पर संसारके संकट सदाको समाप्त हो जायें इसका उपाय जो सुगम और स्वाधीन है, केवल अपने ज्ञान और अपनी वृत्तिके ही आधीन है, जिस उपायमें पराधीनता रंच भी नहीं है, केवल एक आध्यात्मिक साहसकी आवश्यकता है, वह उपाय इस मोही जगतमें कितना कठिन लग रहा है ? यह जीव केवल मानने माननेका ही तो विकल्प कर रहा है कि और कुछ भी बाह्य पदार्थोंमें कर पाता है, इसकी मान्यताका निमित्त पाकर आत्मामें योग होता है और उसका निमित्त पाकर उसके अनुरूप बाह्यमें भी प्रवर्तन होता है। यों बात चल उठी समस्त संसारके कार्योंकी, लेकिन इस जीवने अपना मूलमें क्या किया है ? केवल एक मान्यता। तो यह मानो जब वाह्य पदार्थोंकी अपनायत करती हुई पद्धतिसे मान्यता होती है तब इस जीवको क्लेश और बन्धन होता है, और जब बाह्यपदार्थोंको अपनानेकी पद्धति नहीं होती है, किन्तु निजको निज माननेकी पद्धति बनती है तब इस जीवको ज्ञानानुभूति होती है और सदाके लिए संकट छूट जायें—इसका उपाय बनता है।

यथार्थ विश्राम—जैसे दिनभर बहुत काम करनेके बाद थकान हो जाती है और उस थकानको दूर करनेके लिए रात्रिको निद्रा लेनेकी जरूरत होती है, विश्राम लेनेकी आवश्यकता होती है, उस विश्रामके बाद प्रातःकाल फिर श्रम करनेकी क्षमता होती है। तो थकान दूर करनेके लिए जैसे यहाँ विश्रामकी आवश्यकता होती है, ऐसे ही मनकी दौड़ जो रात-दिन लगा करती है उस मनकी दौड़से जो एक अद्भुत थकान इस जीवमें उत्पन्न होती है, जिस थकानके कारण यह जीव बेकार हो गया है, और बाह्य पदार्थोंका ही भरोसा रखकर यह आकुलित हो रहा है, ऐसी इस मनके विकल्पोंकी थकान दूर करनेके लिए इस शुद्ध सहज चैतन्यस्वभावमें दृष्टि करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, और यह निज अध्यात्मदृष्टि निजके ही तो आधीन है और निजमें ही करना है। कोई लोग इस शरीरको जबरदस्ती पकड़ें, कैदमें डाल दें अथवा अन्य उपद्रव करें, तिसपर भी यह जीव यदि अपने अमूर्त जीवास्तिकायमें जब यह सुगम शान्तिका काम करना चाहता है तो वहाँ भी यह निर्बाध रहकर शान्तिका कार्य कर सकता है, इसके लिए ज्ञानकी दृढ़ता आवश्यक है।

ज्ञानकी निर्देशकता—भैया ! सारा खेल दुनियामें ज्ञानका ही तो है। कौन पुरुष किस प्रकारका ज्ञान रखता है, तब उसकी क्या चेष्टा होती है, यों ही निरखते जाइये। सारा काम, सारी व्यवस्था, सारा प्रबन्ध सब कुछ इस ज्ञानकी जड़से चला करता है तो जब हम एक जानने और माननेके सिवाय कुछ कर ही नहीं पाते हैं तो इन २४ घंटोंमें एक-आध मिनट हम अपने आपको सही रूपमें जानने माननेका यत्न तो करें। यदि हम अपनेको सही रूपमें जाननेकी दिशामें बढ़ें तो हमें यह विदित होगा ही नहीं कि मैं अमुक नाम वाला हूं, अमुक

Version 1

जाति कुलका हूं अथवा ऐसे देहका धारी हूं, और न मैं अनेक विभागोंके उपद्रवका स्वभाव वाला हूं। मैं तो समस्त पर और परभावोंसे रहित केवल एक चैतन्यस्वभाव मात्र हूं, ऐसी दृष्टि बने तो यही है वह परमविश्राम, जिस विश्रामके बाद ये मनकी थकानें भ्रम कष्ट सब दूर हो जाते हैं, इस ही उपायको करके भगवान महावीर स्वामीने अर्हंत्यपद प्राप्त किया।

प्रभु महावीरकी सर्वप्रियता—प्रभु महावीर प्रचलित रीतिके अनुसार आजसे ढाई हजार वर्ष करीब पहिले हो चुके हैं। वे त्रसलादेवीके कुक्षिसे सिद्धार्थ राजाके गृहमें उत्पन्न हुए। इनके बालपनसे ही ज्ञान और वैराग्य की वृद्धिके कारण शुद्ध भावना रही और ब्रह्मचारी रहे। भला जो सारे विश्वको मोक्षमार्गका प्रतिपादन करने वाला होगा ऐसे तीर्थंकरका जब तक गृहमें निवास रहता है तब तक मनुष्य लोकका, देवलोकका उनके प्रति कैसा आकर्षण रहता होगा? यहाँ कोई एक भी धनिक पुरुष या अधिकारी पुरुष या कुछ पहिले समय में जैसे जमीदार लोग हुए थे, उनकी ही ठाठ बड़ी हुई थी, लोगोंका आकर्षण रहता था। कोई ज्ञानी पुरुष हो, नेता हो उसके ही प्रति देख लो लोगोंका कितना आकर्षण रहता है, पर जो तीन लोकका नेता है ऊर्द्ध, मध्य, पाताल लोकके इन्द्र जिनकी सेवासे अपना भाग्य सफल मानते थे उन तीर्थंकर प्रभुकी कितनी सेवा गृहस्थावस्थामें होती होगी, लोगोंका कितना प्यार उनको मिलता होगा, लेकिन जिनके अंतः ज्ञानप्रकाश हो जाता है उन्हें ये बाह्य प्रलोभन, ये बाह्य समागम प्रसन्न नहीं कर पाते हैं। वे विरक्त हुए।

प्रभु महावीरभगवानकी विरागता—विरक्त होनेके बाद प्रभु महावीर भगवानने पूर्ण मौन व्रत धारण किया। जो बड़े पुरुष होते हैं तीर्थंकर पुरुष वे दीक्षा लेनेके बाद केवलज्ञान होनेसे पहिले बोला ही नहीं करते और केवलज्ञानके बाद भी वे ऐसे मुख जिह्वा वचनोंसे नहीं बोलते, किन्तु उनकी एक विशिष्ट दिव्यध्वनि देहसे निकलती है। जब तक थोड़ा जान रहे थे, केवलज्ञान नहीं हुआ था तब तक यह भाव बना हुआ था कि इस थोड़ी सी जानकारीकी स्थितिमें हम लोगोंसे कुछ नहीं बोलना चाहते। हाँ पूर्ण आधिपत्य हो, समग्र वस्तुवोंके ज्ञानपर उस समय बोला जाय तो ठीक है। वे छद्मस्थ अवस्थामें बोले नहीं और जब सम्पूर्णज्ञान हो गया उन्हें तो अब बोलना ही क्या? किससे बोलें? कोई रागद्वेष तो है ही नहीं। इतना तक भी नहीं है कि ये महापुरुष, ये श्रेणिक, ये गणधर, ये चक्रवर्ती, ये लोग बड़ी भक्तिसे मेरे पास आये हैं तो मैं इनको कुछ बोल दूं अथवा इन्होंने प्रश्न किया है तो मैं कुछ उत्तर दे दूँ, इतने तक विकल्पकी भी जहाँ गुञ्जाइश नहीं रही, ऐसे वीतराग सर्वज्ञभगवान किसीसे बोलते नहीं, किन्तु उनकी निरीह दिव्यध्वनि अद्भुत होती है।

महावीर भगवान और संतोंका आभार—भगवान महावीर स्वामीका आज यह शासन न होता तो हम आप इस मोक्षके मार्गमें कैसे लगते? यह जीवन तो कभी मिट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जायगा, ये समागम तो कभी बिखर जायेंगे लेकिन मोक्षमार्गकी प्रतीति बन जाय, अपने आपके सहजस्वरूपका परिचय हो जाय और यह सुहा जाय, इसकी ही रुचि जग जाय तो यह होगा महान पुरुषार्थ। जिस पुरुषार्थके बलसे हम भावी कालमें भी उत्तम धर्मपद्धतिके प्रसंगमें रह सकेंगे। कितना उपकार है प्रभुका और कितना उपकार है इन साधुसंतोंका, ऋषि जनोंका जिन्होंने अपना अनुभव लेखनीबद्ध करके हम सबको ज्ञानप्रकाश किया है। इन ऋषि संतोंका हमपर महान् उपकार है। धन कन कंचन साम्राज्य ये सब सुलभ हैं, मिलना हो तो मिल जाते हैं, न मिलना हो तो नहीं मिलते हैं। सब उदयाधीन बात है और प्रायः मिलता ही रहता है। जो अनन्त आनन्द अनन्त शक्तिका पुञ्ज है आत्मा वह कितना भी आवरणमें आ जाय तो भी इसको सहूलियतें कुछ न कुछ मिलती ही रहती हैं जिससे यह सुखी रहे। चाहे कोई उन वैभवोंका उपयोग कैसा ही करे। तो ये समस्त वैभव सुलभ हैं किन्तु अपने आपके स्वरूपका यथार्थज्ञान अति दुर्लभ है। जिस स्वरूपके यथार्थ ज्ञान बिना यह जीव इस संसारमें भटकता रहता है।

वक्तव्यके संप्रदान—जो जीव मोक्षसुखरूपी अमृत रसके प्यासे हैं, जिनकी केवल अन्दरसे यही एक तीव्र इच्छा जगी है कि मुझे तो अपने आपको केवल बनाना है लेकिन व्यवस्थासे भी अधिक हितकारी बात आत्महितको जिन्होंने माना है ऐसे मोक्षसुखसुधारसके प्यासे भव्यजीवोंको ये महावीर भगवान मोक्षके कारण हुए। अर्थात् इनके शासनका पालन करे जो कोई तो अनन्ता ज्ञानादिक गुणोंका फल इन भव्योंको मिलेगा। ऐसे महावीर स्वामी आजके युगमें धर्मतीर्थके प्रवर्तक, जो स्वयं रत्नत्रयस्वरूप हैं उनको प्रणाम करके कुन्दकुन्दाचार्य देव यह प्रतिज्ञा कर रहे हैं, संकल्प कर रहे हैं कि निश्चय मोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहार-मोक्षमार्गको कहूंगा।

मोक्षमार्गके वर्णनमें नव पदार्थोंके वर्णनकी प्रथम आवश्यकता—व्यवहारमोक्ष मार्गके अवयव हैं दर्शन और ज्ञानकी वृत्ति, श्रद्धान और ज्ञानकी वृत्ति अर्थात् रत्नत्रय, उसके विषय-भूत ये ९ पदार्थ हैं जिनके परिज्ञानसे व्यवहारमोक्षमार्गमें वृत्ति होती है। मैं इस व्यवहार मोक्षमार्गको कहूंगा। यद्यपि आगे चलकर इस अधिकारके बाद चूलिकामें मोक्षमार्गका विशेष वर्णन किया जाना है तो भी ९ पदार्थोंका संक्षेपमें वर्णन किया जाना आवश्यक है। ९ पदार्थोंका व्याख्यान यहाँ इसलिए किया जा रहा है कि मोक्षमार्गमें लगने वाले जीवोंको प्रथम ही प्रथम कहाँसे परिचय मिलता है कि ये अपने कल्याणमार्गमें फिर आगे बढ़ते रहते हैं, उसी प्रारम्भिक परिचयका वर्णन किया जायगा।

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥

Version 1

मोक्षमार्गका निर्देश—इस गाथामें मोक्षमार्गकी सूचना दी है। मोक्षमार्गकी प्रसिद्धिके लिए इस अधिकारमें ६ पदार्थोंका वर्णन किया जायगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे युक्त जो सम्यक्‌आचरण है वह मोक्षका मार्ग है अर्थात् सप्ततत्त्वोंका यथार्थज्ञान, यथार्थ श्रद्धान और यथार्थ श्रद्धानके अनुरूप अपनी सिद्धि बने, इसके लिए चारित्रका धारण यह मोक्षमार्ग है। यह मोक्षमार्ग रागद्वेष रहित समतारससे परिपूर्ण है। यह मोक्षमार्ग बुद्धिमान पुरुषोंके, विवेकी जनोंके प्रकट होता है, जो कि भव्य हैं, मोक्षमार्गके सन्मुख हैं।

विधि व प्रतिषेधसे विशेषणोंकी विशेषकता—इस गाथामें जितने शब्द दिए गए हैं वे शब्द प्रस्तावित बातका समर्थन करते हैं और उनसे विपरीत बातका खण्डन करते हैं। जैसे यह बताया है कि सम्यक्त्व ज्ञानसे सहित चारित्र मोक्षका मार्ग है तो इसका अर्थ प्रतिषेध रूपमें यों ले लीजिए कि सम्यक्त्व और ज्ञानसे रहित प्रवृत्ति मोक्षका मार्ग नहीं है। चारित्र मोक्षका मार्ग है। तो प्रतिषेधमें यहाँ लीजिए कि अचारित्र मोक्षका मार्ग नहीं है। इसका प्रतिषेधक अर्थ यह ले लीजिए कि रागद्वेषसे सहित जो प्रवर्तन है वह मोक्षका मार्ग नहीं है। यह मार्ग मोक्षका बताया जा रहा है। मोक्षका है, इसका प्रतिषेधक अर्थ यह लीजिए कि यहाँ बंधका मार्ग नहीं कहा जा रहा है। यह मार्ग है अमार्ग नहीं है। यह मार्ग भव्य जीवोंको कहा जा रहा है या भव्य जीवोंके हुआ करता है। इसका प्रतिषेधक अर्थ यह है कि यह मोक्षमार्ग अभव्य जीवोंके नहीं होता है। यह मोक्षमार्ग लब्धबुद्धियोंके होता है। जिसे भेदविज्ञान होता है उन ही जीवोंके यह मोक्षमार्ग होता है, अलब्धबुद्धियोंके मोक्षका मार्ग नहीं होता है। जब कषाय नष्ट हो जाय तब ही यह मोक्षमार्ग होता है, कषायसे मोक्षमार्ग नहीं होता है।

प्रायोजनिक ज्ञानकी विशेष अपेक्षा—कथनी तो बहुत हुई है, वर्णनका विस्तार भी गहन है, पर यह विस्तार भी जिन्हें नहीं मालूम वे भी आत्मस्वरूपकी दृष्टिकी सम्हाल करें। जिन्हें यह भी नहीं मालूम कि कर्म कैसे कटते हैं, कैसे क्लेशोंका खंडन होता है, वे भी निज स्वरूपकी दृष्टिसे इस आत्मज्ञानके प्रतापसे इन सब कार्योंको कर लेते हैं। ज्ञान कर सकते हैं और समय हो, बुद्धि हो तो प्रत्येक दशाका ज्ञान करना चाहिए। नाना विषयोंका ज्ञान करे, शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्यवहारशास्त्र विज्ञानवाद सबका अध्ययन करे, जिसकी दृष्टि आत्महित होती है वह प्रत्येक स्थितियोंमें अपने मर्मकी बात निकाल लेगा। उसकी वृत्ति तो आत्महितमें भली प्रकार होती है लेकिन जो विविध विषयोंके ज्ञान करनेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं वे भी यदि प्रयोजनभूत स्वपर भेदविज्ञानकी बातोंको भली प्रकार समझ लें, श्रद्धामें लायें और इस ही प्रकारका भाव करें, अपने आपकी ओर ठहरें तो वे भी कुछ समय बाद सर्व प्रकारका ज्ञान करके निर्विकल्प स्थितिमें आ जाते हैं और वे रत्नत्रयकी अवस्थासे पार होकर कैवल्य अवस्था

Report any errors at vikashd@gmail.com

को प्राप्त हो जाते हैं। हम आपका कर्तव्य यह है कि जो चौबीसों घंटोंमें दिल पीड़ित हो जाता है उसकी थकानको मेटनेके लिए, उसकी पीड़ाको दूर करनेके लिए निज सहज चैतन्यस्वरूपका चिंतन और ध्यान करना चाहिए। मोक्षमार्गके लिए हम आपका यह कदम बहुत उपयोगी है।

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥१०७॥

नव पदार्थ व व्यवहार रत्नत्रय—यह दूसरा अधिकार ९ पदार्थोंका चल रहा है। इसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन ९ पदार्थोंका वर्णन चलेगा। यह वर्णन मोक्षमार्गसे सम्बधित है। नौ पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और समतापरिणाम होना, विषयोंमें प्रवृत्ति न करना सो सम्यक्चारित्र हैं। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व्यवहारदृष्टिसे कहे गए हैं। इस ही व्यवहार रत्नत्रयका इसमें प्रतिपादन है। वीतराग सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रणीत जो भाव है उस भावका श्रद्धान करने वाला जो परिणमन है उसका नाम है सम्यग्दर्शन। इससे पहिले अधिकारमें जो ५ अस्तिकायोंका वर्णन किया है और कालसहित ६ द्रव्योंका वर्णन है, उनके ही भेदरूप ये नौ पदार्थ हैं। इन नौ पदार्थोंमें उत्तरके ७ पदार्थ परिणमन तो जीव और पुद्गलके हैं, किन्तु उन परिणमनोंमें किसी न किसी प्रकारसे शेषके द्रव्य निमित्तभूत हैं, अतः नौ पदार्थ सबके सब इन ६ द्रव्योंसे सम्बन्ध रखते हैं।

अश्रद्धानपरिहार व श्रद्धान—नौ पदार्थोंका मिथ्यादर्शनके उदयसे अश्रद्धान उत्पन्न हुआ करता था, अब उस अश्रद्धानका अभाव हो गया, अब इन्हींका श्रद्धान अन्य अपूर्वभाव पद्धतिसे होने लगा। यह मिथ्यादृष्टि जीव पहिले अपने आपको शरीर निरखकर 'यह मैं हूं' ऐसी प्रतीति रखता था, अब यह सम्यग्दृष्टि जीव सर्वसे न्यारे एक चैतन्यस्वभावमात्र अपने आपको परखकर अपने आपमें आनन्द बढ़ा रहा है। आनन्द तो जब कभी भी मिलेगा हम आपको कोई भी चेतन हो, उन परपदार्थोंके विकल्पसे हटकर अपने आपके स्वरूपमें हम समायेंगे तब आनन्द मिलेगा। शेष प्रक्रियाएँ तो सब मेलजोलकी हैं। यह अज्ञानी उन प्रक्रियावोंमें अपने उपयोगका व्यर्थका विस्तार बढ़ा बढ़ाकर हैरान हो रहा है। मैं क्या हूं, इसका निर्णय सही जब तक नहीं हो पाता है तब तक यह जीव गरीब है।

आनन्दधामके परिचयमें अमीरी—भैया! जो आनन्दधाम है, जिसमें इसे आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दधामकी पकड़ न हो तो वह तो नितान्त गरीब है। ये संसारी मनुष्य जन बाहरी अचेतन पदार्थोंका संचय करके उनको निरखकर मानते हैं कि मैं बड़ा हूं, किन्तु है वहाँ इसका कुछ? कुछ भी नहीं। जब आनन्द सुधारस इसके भर नहीं सकता तो वह अमीर कैसे? ३ लोकके जड़ पदार्थ भी समक्ष आ जायें तो भी वह गरीब है, क्यों गरीब

Version 1

है कि आत्माका शुद्ध आनन्द सुधारसका पान यह नहीं कर सका है। संसारकी विधि संसार की तरह है, मोक्षकी विधि मोक्षकी तरह है। यह श्रद्धान ९ पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वके परिचयका बीजभूत है अर्थात् व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण है। ९ पदार्थोंकी यथार्थ श्रद्धा निज शुद्ध चैतन्यस्वभावके यथार्थ अनुभवका कारण बन सकती है।

मिथ्यात्वमें विपरीत श्रद्धा—मिथ्यादर्शनके उदयसे इसका ऐसा संस्कार बना है कि जिससे यह अपने बारेमें उल्टा ही समझता है। जैसे नावमें बैठा हुआ पुरुष अपना चलना नहीं देख पाता, अन्य स्थिर जो तटके निकट पेड़ खड़े हैं उनका चलना निरखता है अथवा कभी-कभी रेलगाड़ीमें बैठा हुआ मुसाफिर यों निरखता है कि ये पेड़ जल्दी-जल्दी चले जा रहे हैं। मुसाफिर अपने आपकी कुछ परिणति नहीं निरख पाता है, किन्तु बाहरी-बाहरी ही परिणमनोंको सारभूत निरखता जाता है।

अन्तस्तत्त्वमें संशय विपर्यय व अनध्यवसाय—इस मिथ्यादृष्टि जीवको संशय विपर्यय और अनध्यवसाय तीनों ज्ञानाभास बने हुए हैं। मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वोंमें इसे संशय है, ऐसा है या ऐसा है, ऐसा संशय बना रहता है। एक तो मिथ्यादृष्टि जीव इस तरहके होते हैं। कोई विपर्यय ज्ञानी होते हैं, हो तो कुछ और प्रकार, मानेंगे कुछ और प्रकार। जैसे जीव है तो चेतन, पर मानेगा भौतिक। इन पृथ्वी आदिक महाभूतोंसे यह उत्पन्न होता है। कुछ लोग अनध्यवसाय वाले हैं, वे इस सम्बंधमें कुछ जाननेकी उत्सुकता ही नहीं रखते हैं। यों संशय विपर्यय अनध्यवसायसे अंधेरेमें पड़े हुए मिथ्यादृष्टि जीवोंके जब विवेक भाव होता है, तत्त्वज्ञानका पुरुषार्थ होता है तो ये सब कुज्ञान दूर होते हैं और स्पष्ट अपने आपका निश्चय हो जाता है।

निजविनिश्चयकी आवश्यकता—जिसे सुखी होना है उस ही का कुछ जब पता नहीं है तो सुखी होनेका मार्ग कहाँसे पावेगा ? सुखी होनेके लिए समझ लो कि आखिर जिसे सुखी होना है वह मैं हूं क्या ? एक अपने आपके स्वरूपका विनिश्चय हुए बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। ९ पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। इसका विस्तारसे वर्णन स्वयं गाथाओंमें आयगा कि ९ पदार्थ क्या हैं और उनका क्या स्वरूप है ? यह तो हुआ व्यवहारसम्यग्दर्शन।

सम्यग्ज्ञान—सम्यग्ज्ञान क्या है ? जैसा यह पदार्थ है उसका उसके स्वरूपसे ज्ञान करना सो सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान ज्ञानचेतना प्रधान है अर्थात् यह ज्ञानस्वरूपके निकट है, इस कारण यह आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका बीज है। ९ पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानके उपायसे यह ज्ञानी पुरुष इस निज विशुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके निकट पहुंच जाता है, यही है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सम्यग्ज्ञान।

सम्यक्चारित्र—सम्यक्चारित्र—जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका प्रकाश बन गया तो यह जीव कुमार्गसे छूटकर अपने ही आत्मतत्त्वमें विशेष रूपसे लगता है। जब अपने स्वतत्त्वमें यह ठहरने लगता है, इन्द्रिय और मनके विषयभूत पदार्थोंमें रागद्वेषपूर्वक विकार नहीं रहा करते हैं उस समय इसका निर्विकार ज्ञानरूप परिणमन होने लगता है। वही समभाव है, इसीका नाम चारित्र है। यह समभाव जिस व्यक्तिमें प्रकट होता है उस समय भी यह अति रमणीक है, अपने आपको अपने आपमें बड़ा आराम मिलता है। जब किसी भी प्रकारका विकल्प उठता रहता है तो यह आत्मा थक जाता है। अन्तरमें जब किसी भी प्रकार का राग परिणाम जगता है उस थकानको मिटानेमें समर्थ यह समतापरिणाम है। जिस समयमें समतापरिणाम जगता है, किसी भी परवस्तुमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका विकल्प नहीं उठता, उस ही समय यह अपूर्व विश्रामको प्राप्त होता है और भावीकालमें तो यह अति उत्कृष्ट अपुनर्भवके आनन्दका कारण बनता है।

व्यवहारसम्यक्चारित्रका प्रभाव—व्यवहारसम्यक्चारित्रकी भी कितनी अपूर्व महिमा है? कोई इन्द्रिय और मनके विषयको छोड़कर परख कर सकता है। सर्व जीवोंमें राग और द्वेष करनेकी परिणति न करके एक समतापरिणामसे विश्रामसे रहकर अनुभव कर सकता है कि सम्यक्चारित्रमें कितनी सामर्थ्य है। ऐसा यह त्रिलक्षण मोक्षमार्गको आगे निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों दृष्टियोंसे बतायेंगे। यह तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अथवा दर्शनज्ञान के विषयभूत जो ९ पदार्थ हैं उनकी सूचना भर दी गई है कि ९ पदार्थ ये हैं। यों ९ पदार्थों का वर्णन करनेके रूपमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी बात कही गई है।

विवेक और विवेकफल—भैया! हम अपने आपके बारेमें मोटे रूपमें इतना तो समझते ही रहें कि यह देह मैं नहीं हूं। मैं एक जाननदेखनहार चैतन्यतत्त्व हूं। इन देहादिक अचेतन पदार्थोंमें जब मैं आकर्षित होता हूं तो कर्मोंका आस्रव होता है, कर्मरूप परिणमन होता है और उन कर्मवर्गणावोंकी कषायोंके अनुसार स्थिति बँध जाती है, ये कर्म कितने वर्षों तक रहेंगे—यह स्थिति पड़ जाती है और कषायोंके अनुसार फल देनेकी शक्ति उनमें पड़ जाती है, यों ये कर्म बँध जाते हैं और बाह्यपदार्थोंमें विकल्प न रक्खें, उनका आश्रय न करें तो यह उन आस्रव और बंधोंसे दूर हो जाता है, तब पहिलेके बंधे हुए कर्म खिरने लगते हैं। इस पुरुषार्थके प्रतापसे इस जीवका निर्वाण हो जाता है। यों ९ पदार्थोंको स्थूल रूपसे जाननेकी प्रारम्भिक बात यह है। अब उन पदार्थोंका नाम और स्वरूप बतला रहे हैं।

जीवाजीवाभावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥१०८॥

Version 1

नव पदार्थोंके नाम व स्वरूप—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सम्वर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये ९ पदार्थोंके नाम हैं। इन पदार्थोंमें से जीवनामक पदार्थ क्या कहलाता है जिसमें चैतन्यस्वभावका सद्भाव पाया जाय, ऐसा जीवास्तिकाय ही जीव है। कुछ लोग इस जीवको और आत्माको जुदा-जुदा मानते हैं और उसमें आत्माका श्रेष्ठ स्वरूप बताते हैं और जीवका विकृत स्वरूप बताते हैं। उनके सिद्धान्तमें विकारी जीव ही होता है आत्मा नहीं होता है। जीव अनेक हैं आत्मा एक है, ऐसा माननेका उन्हें अवसर कैसे मिला ? इस मान्यताकी समस्या उनमें कैसे आयी ? उसका कारण सुनिये।

आत्मा और जीवके पार्थक्यके अध्यवसायका कारण—आत्मा और जीवका पृथक्त्व माननेका कारण यही सम्भव हो सकता है कि एक चैतन्यपदार्थमें द्रव्यत्व और पर्याय ये दो बने हुए हैं, ये अलग नहीं हैं। वे पदार्थ जो नित्य हैं, ध्रुव हैं उनमें जो शाश्वत स्वभाव है वह तो एक मूल द्रव्य है और उसका प्रतिसमयमें जो परिणमन होता है वह परिणमन पर्याय है। यों कहो शक्ति और परिणमन। यह चेतनात्मक है। जो ध्रुव शक्ति है वह और उसका जो बाहरी व्यक्त रूप है वह ये दोनों चेतन तत्त्वसे जुदे नहीं हैं, किन्तु इनका लक्षण परिचय तो भिन्न-भिन्न है। जो प्रतिक्षण उत्पाद व्यय होता है वह तो पर्याय है और जो शाश्वत रहे वह चित्शक्ति है। इस व्यपदेशके भेदसे, लक्षणके भेदसे अत्यन्त भिन्न मानकर परिणमन का नाम तो जीव रख दिया और चैतन्यशक्तिका नाम आत्मा रख दिया। आत्मा और जीव के पृथक् व्यपदेशकी इस व्यवस्थाके बाद तो यह भी बात फिट कर ली जायगी कि जब यह जीव अपने स्वरूपको छोड़कर आत्मामें लीन हो जाता है तब इसको मोक्ष होता है। उसका भी अर्थ यही है कि जब यह जीव अपनी पर्यायका व्यामोह त्यागकर एक चैतन्यशक्तिके उपयोगमें तन्मय होकर एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वहां शक्तिके अनुरूप ही तो व्यक्ति बनती है उसका ही तो नाम निर्वाण है।

पदार्थस्वरूपव्यवस्था—जीव चाहे शुद्ध दशामें हो, चाहे अशुद्धदशामें हो, जिसमें चेतना पायी जाय वह जीवास्तिकाय ही जीव है। अजीव वह है जिसमें चेतनाका अभाव हो। ये अजीव ५ प्रकारके होते हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलअस्तिकाय, आकाशअस्तिकाय और कालद्रव्य। इस प्रकार जीव और अजीवमें ये ६ पदार्थ आ गए, उनमें मूल पदार्थ तो दो हैं ना—जीव और अजीव। इस मोक्षमार्गके प्रकरणमें अजीव शब्दसे अर्थ ले लो कार्माणवर्गणा जातिके पुद्गल। जीव और अजीव पृथक्भूत अस्तित्वसे बने हुए हैं। सत्ता दोनोंकी निराली, न्यारी अपनी अपनी है। भिन्न-भिन्न स्वभावभूत हैं। जीव और पुद्गलके संयोग परिणमनसे रचे गए ७ अन्य पदार्थ हैं। वे किस प्रकार है ? सो सुनिये।

पुण्य और पाप—जीव अजीवके बाद पुण्य पापका नाम लिया गया है। तो पुण्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पाप दो-दो प्रकारके होते हैं—एक जीवपुण्य और एक पुद्गलपुण्य अर्थात् अजीवपुण्य तथा एक जीवपाप और दूसरा अजीवपाप। इस जीवका जो शुभ परिणाम है जिसको भावपुण्य कहते हैं, प्रभुभक्ति दया दान परोपकार उदारता आदिक जो जीवके शुभ भाव हैं वे सब भाव हैं भावपुण्य और उसके निमित्तसे जो पुण्यकर्मबंधन है, कर्मका परिणमन होता है वह है द्रव्य पुण्य। इसी प्रकार पाप भी दो प्रकारके हैं—एक जीवपाप और अजीवपाप। जीवका जो अशुभ परिणाम है आर्तध्यानरूप, रौद्रध्यानरूप, रागद्वेषसे विकृत मोहमें मलिन जो जीवका परिणाम है वह तो है जीवपाप। भावपाप और उस अशुभ परिणामके निमित्तसे जो कर्मोंका बन्धन होता है वह है द्रव्यपाप। पुद्गलका पाप, अजीवपाप। यह ९ पदार्थोंका एक साधारण रूपसे व्याख्यान चल रहा है।

आस्रव और संवर—इसके बाद नाम है आस्रव। जीवका जो मोह रागद्वेष परिणाम है वह तो है जीवास्रव और उसके निमित्तसे जो कर्मबन्ध होता है वह है अजीवास्रव, अर्थात् जीवमें रागद्वेष मोह विकारोंका आना यह तो है जीवास्रव और इन परिणामोंके निमित्तसे उस ही कालमें जो कार्माणवर्गणा कर्मरूपसे बन रही हैं उनका नाम है अजीवास्रव। आस्रव तत्त्व के बाद सम्वरका नाम लिया है। ये दोनों विरोधी हैं आस्रव और सम्वर, इसलिए तत्काल प्रतिपक्षका नाम लिया है। मोह रागद्वेष परिणामोंका रुक जाना यह तो है जीवका सम्वर। जीवमें रागद्वेष मोह परिणाम हटे ऐसा जो अन्तरङ्ग पुरुषार्थ भाव है वह है जीवसम्वर। और इस जीवके परमपुरुषार्थके निमित्तसे जो कार्माणवर्गणावोंमें अब कर्मत्व परिणमन नहीं हो पा रहा है, कर्मत्वपरिणमन रुक गया है वह है अजीव सम्वर। सीधा तात्पर्य यह हुआ कि रागद्वेष मोहको दूर करो, सो यह तो हुआ जीवसम्वर और फिर कर्म अपने आप ही न आयेंगे। कार्माणवर्गणावोंमें कर्मरूप परिणमन न होगा तो यह हो गया कर्मसम्वर।

निर्जरा और बन्ध—सम्वरके बाद निर्जराका नाम है। निर्जरा भी दो प्रकारकी है—एक जीवसम्बंधी निर्जरा और एक अजीवसम्बंधी निर्जरा। कर्मशक्तिका घात करनेमें समर्थ और बहिरङ्ग अन्तरङ्ग तपस्यावोंकी विशुद्धिसे बढ़ा हुआ जो जीवका शुद्धोपयोग रूप परिणमन है वह तो है भावनिर्जरा और उस भावनिर्जराके प्रतापसे पूर्वबद्ध कर्मोंका एकदेश विनाश होना यह है कर्मनिर्जरा। निर्जराका प्रतिपक्षी है बंध। अतः निर्जराके बाद बंधका नाम लिया गया है। बंध भी दो प्रकारका है—एक जीवबंध और एक अजीवबंध। जो मोह रागद्वेषकी चिकनाईका परिणाम है वह तो है जीवबंध और उस चिकनाईके निमित्तसे कर्मरूपसे परिणत हुए पुद्गलका जीवके साथ एकमेक हो जानेका नाम सम्मूर्छित बननेका नाम है बंध।

मोक्ष—अत्यन्त उपादेय होनेसे अन्तमें मोक्षका नाम बताया है। लोग भी कहते हैं ना कि सब निपट जावो, फिर सारभूत बात कहूंगा। यों मोक्षका नाम अन्तमें है। इसलिए

Version 1

शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो जाना यह तो है भावमोक्ष। जीव निर्विकारस्वरूप है, वहीका वही रह गया, यही है मोक्ष और जीवका कर्मपुद्गलका सदाके लिए वियोग हो जाना, यही है कर्ममोक्ष। इस प्रकार ६ पदार्थोंका नाम और संक्षेपमें स्वरूप कहा गया है।

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥१०६॥

जीवप्रकार—६ पदार्थोंका नाम और संक्षिप्त स्वरूप बताकर अब उनमेंसे जीव नामक पदार्थके व्याख्यानका विस्तार करते हैं। उस प्रसंगमें इस गाथामें जीवके स्वरूपका वर्णन है। जीव २ प्रकारके होते हैं—एक संसारी और दूसरे निर्वृत्त। ये दोनों ही जीव चेतनात्मक होते हैं। इनका लक्षण उपयोग है। और इनमें एक तो देह प्रवीचार है अर्थात् देह सहित है और दूसरा अदेह है। संसारी तो सदेह है और मुक्त जीव देहरहित हैं। जो संसारी जीव हैं वे अशुद्ध हैं और जो मुक्त जीव हैं वे शुद्ध हैं। चेतनेका स्वभाव इन दोनोंमें एक समान है। समस्त जीवपदार्थ स्वरूपदृष्टिमें निर्माणमें सब चैतन्यस्वरूप हैं, और वह चेतना परिणमनरूप उपयोगसे परीक्षाके योग्य है। उनका लक्ष्य उस चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे हो होता है। जिसमें चैतन्यस्वभावका सद्भाव है उसे जीव कहते हैं।

उपाधिभेदसे जीवभेदप्ररूपण—सब जीवोंका सहज सत्त्व एक ही प्रकारका है। किन्तु उपाधिके सम्बंधसे और उपाधिके वियोगसे प्रथम तो ये दो भेद हुए हैं—संसारी और मुक्त। संसारी जीवोंमें उपाधियोंकी विभिन्नताके कारण नाना भेद हो जाते हैं। इससे जो संसारी जीव हैं वे देहसहित हैं, देहका उनके भोग लगा है अर्थात् वे शरीरको भोगते हैं। अपने ही शरीरको भोगते हैं, और जो मुक्त जीव हैं वे इस देहके प्रवीचारसे रहित हैं अर्थात् देहका उनके सम्बंध नहीं है। इस प्रकार ये जीव दो भागोंमें विभक्त हैं। सिद्ध हैं मुक्त जीव और यहाँ हैं संसारी जीव। अरहंत भगवान जीवन्मुक्त कहलाते हैं। प्राणोंसे जीवित होनेपर भी वे चार अघातिया कर्मोंसे मुक्त हैं अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तशक्ति रूप चतुष्टय से सम्पन्न हैं वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं, मुक्त ही होने वाले हैं।

मोक्षमें आनन्द—मोक्ष अवस्थामें कैसा आनन्द होता है, कैसी निराकुलता होती है, वह अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव करनेके उपायसे कुछ विदित होता है। बाहरी दृष्टि बनाकर या ऊपरसे सिद्ध भगवान हैं ऐसा निरखकर भगवानके आनन्दका ज्ञानका पता नहीं पाड़ा जा सकता। अपने आपमें ही कुछ प्रयोग बनानेपर भगवानके ज्ञान और आनन्दका पता पाड़ा जा सकता है। ऐसी बात हुआ करती है। इसका कारण यह है कि जो भगवानका स्वरूप है वही अपनेमें स्वभाव है। अपने आपके स्वभावका दर्शन करनेसे भगवानके उस व्यक्त स्वरूपके विकासका परिज्ञान होता है।

http://www.jainkosh.org

अन्तस्तत्त्वके उपलम्भकी उत्सुकता—हम लोग यद्यपि संसारी जीव हैं पर उपादेयता के रूपसे हमें अपने आपमें इन सब पर्दोंको फोड़कर अन्तरङ्गमें शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र अनुभव करना है, ऐसी विकट स्थितिमें भी जहाँ शरीरका, कर्मका बन्धन है, विभावोंका मलमा ऊपर छाया है, ऐसी कठिन परिस्थितिमें भी यह उपयोग इन सबको पार करके अपने अन्तःशाश्वत चैतन्यशक्तिका दर्शन कर सकता है। जैसे कि हड्डीका फोटो लेने वाला कैमरा खून, मांस-मज्जा सबको पार करके, इन्हें न ग्रहण करके केवल हड्डीका फोटो ले लेता है, ऐसे ही यह उपयोग इस शरीरको विभावोंको पार करके अपने आपके अन्तरंगमें विराजमान जो एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव है उस चैतन्यस्वभावका स्पर्श कर सकता है और इस समयकी अनुभूतिके प्रसाद से फिर विदित होता है कि मुक्त जीवोंके कितना सुख है ? तब कर्तव्य यह है कि हम अपनी दृष्टि, अपना लक्ष्य, अपना यत्न आपके सहजस्वरूपपर रखनेका अधिकाधिक करें।

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदिजीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहवहुलं फासं वहुगा वि ते तेसिं ॥११०॥

पञ्च स्थावरोंका वर्णन—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पति-काय—ये ५ काय जीवसे सहित हैं। ये ५ काय स्थावरोंके कहे गए हैं जिनके केवल एक ही स्पर्शनइन्द्रिय है, मात्र शरीर ही शरीर है। रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये भी प्रकट नहीं हैं। जो अंगोपांगसे रहित हैं वे स्थावर जीव कहलाते हैं। ये यद्यपि अनेक आवान्तर भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं सो भी ये निश्चयसे उन जीवोंको मोहगर्भित परविषयक रागभाव उत्पन्न करते हैं और स्पर्शनइन्द्रियके विषयोंको देते हैं अर्थात् ये जीव भी स्पर्शनइन्द्रियके द्वारा अपने स्पर्श विषयको भोगते हैं। जैसे पेड़ जड़ोंके द्वारा अनेक खाद्य और पेय पदार्थोंको ग्रहण करते हैं और उसे शरीररूप कर डालते हैं, ये सब काय पुद्गलके परिणाम हैं जीवके द्वारा ग्रहण किए गए हैं।

स्पर्शनेन्द्रियज्ञानकी समानता—आवान्तर जाति भेदोंसे ये एकेन्द्रिय जीव यद्यपि बहुत प्रकारके हैं तो भी इन सबका काम एक ही प्रकारका है। पृथ्वीमें रत्न, हीरा, सोना, चाँदी, लोहा, तांबा, मुरमुर, मिट्टी कितनी ही जातियाँ हैं, वे सब जातियाँ भी केवल एक स्पर्शन-इन्द्रियके विषयको भोगती हैं। जो उनमें मिट्टी पानी आदिका आहार है उसका ग्रहण करते हैं और वे भी स्पर्शन इन्द्रियका सुख भोगते रहते हैं। उन एकेन्द्रिय जीवोंको कहाँ सुख है ? वह सुख उनका उनके ही द्वारा गम्य है। अब क्या बतायें, लेकिन बाहरमें जब कुछ यह दीखा करता है कि यह पेड़ खूब हरा-भरा अपनी जोस जवानीपर है, बड़ा पुष्ट है तो उससे अनुमान करते हैं कि यह भी खुश है, सुखी है। कोई पेड़ सूखता नजर आये तो उससे उसको दुःखी अनुभव करते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पृथ्वीकाय—एकेन्द्रियोंके स्पर्शनइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है जिससे वे स्पर्शनइन्द्रिय के द्वारा मात्र वे ज्ञान कर पाते हैं। स्पर्शनइन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान ही उनके कहा है। उनके अंगोपाङ्ग नहीं हैं इस कारण किसीको ये बाधा नहीं करते। कोई आदमी वृक्षको काटे तो वृक्ष उसे रोक नहीं सकता है। जैसेके तैसे खड़े रहते हैं। तब सोच लीजिए कितनी निम्न स्थिति है। कितनी पराधीनता है? कोई पेड़ कट रहा है तो वह पेड़ उसका प्रतिरोध नहीं करता। चाहे जो पेड़को काटे, उखाड़ फेंके, कुछ भी करे, पर वे पेड़ मना नहीं करते। पृथ्वी है, उसे लोग खोदते हैं और पत्थरोंमें जिनमें जान है छेद करके सुरंग डाल देते हैं, ऐसी कठिन कठिन बातें इस पृथ्वीपर गुजरती हैं, पर यह पृथ्वी जीव किससे क्या कहे? उसको दुःख सहना पड़ता है।

जलकाय—जलकायका जीव है, जल है, उसे लोग गर्म करदें, उबाल दें, आगपर डाल दें, जैसी चाहे स्थितियाँ कर दें। जल बेचारा क्या करे? कभी यह जल बाढ़के रूपमें आकर गाँवोंको बहा देता है तो वह जल प्रतिरोध नहीं कर रहा है। वह जान करके लोगों को नहीं बहा पा रहा है। वह तो एक निम्नगमन स्वभाव वाला है। जहाँ नीचा स्थान पाये वहाँ वह जाय, ऐसे स्वभाव वाला है यह जल। वह और कुछ नहीं कर पाता। अनेक प्रकार के क्लेश भोगता रहता है। यह एकइन्द्रिय जीव। ये ज्ञानहीन होते हैं। अन्धकारमें पड़े हुए जीव सम्यग्दृष्टि हो ही नहीं सकते। मिथ्यात्वके सिवाय अन्य कोई गुणस्थान भी उनके नहीं है। पूर्वजन्ममें यह जीव पंचेन्द्रिय हुआ और द्वितीय गुणस्थानमें उसका मरण हुआ तो थोड़े समयको पूर्वभवके लगारसे द्वितीय गुणस्थान हो जाता है। यह भी किन्हीं आचार्योंने माना है और किन्हीं ने नहीं माना है। एक दृष्टिमें तो अपर्याप्तमें भी एकेन्द्रियके द्वितीय गुणस्थान नहीं है, एक दृष्टिमें द्वितीयगुणस्थानका पूर्व सम्बन्ध कारण है। कैसी निम्न स्थिति है?

अग्निकाय और वायुकाय—अग्निको रोक दे, उसपर पानी डाल दे, खूथ दे, कितनी ही प्रकारकी स्थिति बनाकर यह अग्नि ताड़ित की जाती है। हवाकी बात देखो—साइकिलके पहियोंमें, मोटरके पहियोंमें भर दी जाती है। महीनों तक वह हवा उन पहियोंमें भरी रहती है, हजारों मील दौड़ती है, न जाने हवापर क्या-क्या स्थितियां गुजर जाती हैं? बिजलीके पंखे चला देनेसे न जाने कितने वायुकायिक जीवोंकी हिंसा होती है? इतनी बात जरूर है कि गृहस्थ वहाँ निष्प्रयोजन स्थावरजीवोंका घात नहीं करते, त्रस जीवोंका घात नहीं करते, पर वायुकायिक जीवोंकी जो हिंसा होती है वह तो होती ही है। वनस्पतिकायिक जीवोंकी बात देखो। कितना-कितना उनको छेदा भेदा जाता। उनपर नमक डाला जाता, आगमें पका लिया जाता। कितने-कितने क्लेश ये वनस्पतिकायक जीव भोगते रहते हैं?

एकेन्द्रियके क्लेशोंका स्मरण—ये सब क्लेश हम आपने भी भोगे हैं एकेन्द्रिय होकर,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पर जैसे हम आपको गर्भके दुःखकी भी आज खबर नहीं है, किस तरहसे माँके पेटमें रहकर दुःख सहे, इसकी भी खबर नहीं है किस तरहसे उस पेटके अन्दर पड़े रहे, कैसी क्या स्थिति रही, इसकी ही खबर नहीं है तो पूर्वभवकी बातोंका क्या ख्याल रहे और तो जाने दो जब हम आप ६ महीनाके थे तबकी भी तो हम आपको कुछ खबर नहीं है। और ६ महीनेकी तो बात क्या, साल दो सालकी उमरकी भी बातें कुछ याद नहीं हैं, हमें कुछ ख्याल नहीं है। इस कारण हम जानते हैं कि आप सबको भी ख्याल न होगा। तो जब इस ही जीवनकी बातोंका ख्याल नहीं है तो फिर पूर्वभवकी बातोंका तो ख्याल ही कैसे हो सकता है। एकेन्द्रिय जीवोंकी पर्यायोंमें रहकर हम आपने कैसे-कैसे क्लेश पाये थे, इसकी कुछ आज खबर है क्या ?

क्लेशोपभोगका अनुमान—हम आप सभी आगमके बलसे जानते हैं और दूसरे एकेन्द्रिय जीवोंकी हालतको यहाँ देख रहे हैं। साथ यह भी समझ रहे हैं कि ये भी जीव हैं, हम भी जीव हैं। हम लोगोंने भी ऐसे ऐसे शरीर पाये होंगे। ऐसा अनुमान करके हम आप सब जान जाते हैं, पर खबर कुछ नहीं है। इतने लम्बे समयकी भी बात जाने दो। जब जाड़ेके दिन आते हैं तो ४–५ महीना पहिले जो गर्मीसे वेदना हुई थी उस वेदना की भी खबर नहीं रहती है। यह तो एक ही सालके अन्दरकी बात है। और बातें तो जाने दो। जिन दिनोंमें खूब तेज लू चलती है, घरोंमें प्रवेश कर जाती है, खूब प्रचंड गर्मी पड़ती है, गर्मी सही नहीं जाती है उस गर्मीमें ठंडके दुःखोंकी खबर नहीं रहती है, हालांकि यह एक सालके अन्दरकी ही बात है, जब इसका ख्याल नहीं रहता तो भव-भवान्तरोंमें हमने क्या क्लेश पाये, उनका आज हम अनुमान अनुभव नहीं कर पाते हैं। लेकिन जो दूसरे जीव हैं वे सब भी मेरे ही समान तो हैं। तो जो स्थिति उनकी हो सकती है वह स्थिति क्या मेरी नहीं हो सकती है ? ऐसे ऐसे कठिन भोग एकेन्द्रिय अवस्थामें रहकर जीवने भोगे।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय व त्रीन्द्रियोंके ज्ञान—उन एकेन्द्रिय जीवोंके कर्मफल चेतना प्रधान है। उनके केवल स्पर्शनइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है जिसके कारण केवल एक बहिरङ्ग स्पर्शनइन्द्रिय ही प्रकट होती है। कुछ वहाँ भी देखने से यों लगता है कि इन पेड़ पौधोंकी अपेक्षा ये जो रेंगने वाले गेडुवा हैं इनमें कुछ जान कुछ ज्ञान ज्यादासा दिखता है। और इन रेंगने वाले गेडुवोंकी अपेक्षा ठुकुर मुकुर चलने वाली इन गिजाइयोंके, इन कीड़ोंके कुछ और ज्यादा जान, ज्ञान दिखता है। कोई कोई कीड़े तो बड़े ही सुन्दर रंगके होते हैं। जैसे किसी कीड़ाको महादेवका पाट कहते हैं। रेशमकी तरह लाल और कोमल और वह भी ठुकुर मुकुर चलता है तो ऐसा लगता है कि उन गेडुवोंकी अपेक्षा इन तीन इन्द्रिय जीवोंमें जान अधिक है, ज्ञान विशेष है।

नेत्रवाले जीवोंका ज्ञान—कीड़ोंकी अपेक्षा खूब मनमाने उड़ने वाले भंवरा ततैया इनमें कुछ और विशेषज्ञान मालूम होता है। आखिर इनमें आँखें तो और बढ़ गईं। केवल आँखें हो जानेसे बिना आँखों वाले जीवोंकी अपेक्षा तो एकदम अधिक अन्तर वाला बढ़ा हुआ विकास हो जाता है। अभी आप अन्दाज कर लो, आंखोंमें पट्टी न बांधी जाय और वहाँ कोई प्रकारका ज्ञान करें, यहाँ यह रक्खा है, यह फलानी चीज है, यह फलां चीज खायी, यह इतर सूंघा, यों और-और प्रकारका ज्ञान करे एक तो वह स्थिति और एक आँखोंको पट्टी बांध दी जाय, बिना आंखोंके देखे हुए ज्ञान करे, यह स्थिति हो तो इन दोनों स्थितियोंमें अस्पष्टता और स्पष्टताका कितना अन्तर है ? तो उन तीन इन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा इन उड़ने वाले चार-इन्द्रिय जीवोंमें ज्ञान विशेष मालूम होता है। फिर पंचेन्द्रिय और मन वाले इन जीवोंके उत्तरोत्तर ज्ञानविशेष मालूम होता है।

एकेन्द्रिय जीवोंकी परिस्थिति—तो इन एकेन्द्रिय जीवोंके ज्ञान तो सबसे न्यून विदित होता है। ये कर्मफलचेतना प्रधान हैं। दो इन्द्रियके कर्मफल चेतना होने लगी। विक्रिया करते हैं, छुपते हैं, घर बना लेते हैं, आहार खोजते हैं, यहाँ न मिले तो दूसरी जगह मिले। लेकिन ये स्थावर जीव क्या करें ? कैसी दयनीय स्थिति है, और कोई यह सोचे कि भाई दुःख तो हम मनुष्योंको अधिक हैं, इन्हें क्या दुःख हैं तो ये मनुष्य भले ही ऐसी कल्पनाएँ करें, क्योंकि इन्होंने अपने सुखके लिए विषयोंका विस्तार बढ़ाया है, इनके कल्पनाएँ जगती हैं इस कारण ऐसे भले ही वे अपनी कल्पनामें बात लायें लेकिन दुःख तो इन एकेन्द्रियको हम आपसे भी विशेष अधिक है, ये बड़े अंधेरेमें हैं। इनके भी मोह तीव्र है, पर उस मोहके प्रकट करनेका साधनभूत कोई अंगोपांग नहीं हैं। वे स्पर्श विषयके उपलम्यको उत्पन्न करते रहते हैं, स्पर्शविषयका सुख भोगते रहते हैं। सुख क्या है, दुःख ही है, लेकिन स्पर्श विषय का वे उपभोग करते हैं। यों संसारी जीवोंके वर्णनके प्रकरणमें सर्वप्रथम ५ प्रकारके स्थावर जीवोंका इसमें वर्णन किया है।

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥१११॥

एकेन्द्रिय जीवोंके स्थावरनामकर्मका उदय—स्थावर नामकर्मके उदयसे पृथ्वी, जल, वनस्पति—ये तीन प्रकारके जीव एकेन्द्रिय जानना चाहिए, और साथ ही यह जानना चाहिए कि अग्नि और वायुकायिक जीव ये यद्यपि चलते हैं, पर स्थावर नामकर्मके उदयसे ये स्थावर एकेन्द्रिय जीव ही कहलाते हैं। ये मनोयोगसे रहित हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन ५ जीवोंमें एकेन्द्रियपनेका ही नियम है। रूढ़िके अनुसार जो चल न सकें, वहींके वहीं पड़ा रहें उन्हें स्थावर कहते हैं और जो चले उसे त्रस कहते हैं। तो पृथ्वी, जल और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
वनस्पति ये तीन तो जहाँके तहाँ ही पड़े रहते हैं। अग्नि और वायु ये प्रकृत्या हिलते-डुलते रहते हैं। लेकिन इस रूढ़िसे त्रस और स्थावरका भेद नहीं है। नहीं तो जो अत्यन्त छोटा गर्भमें बालक है वह स्थावर कहलाने लगेगा। त्रस नामकर्मके उदयसे जिसको दोइन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियपना मिला है उन्हें त्रस कहते हैं और स्थावर नामकर्मके उदयसे जिनको पृथ्वी आदिक एकेन्द्रिय जातिके शरीर मिले हैं उन्हें स्थावर कहते हैं।

कायसे अन्तस्तत्त्वकी विभक्तता—स्थावर नामकर्मके उदयसे जो चीज इसे मिली है उससे जीवका परमार्थ स्वरूप न्यारा है। जो आज एकेन्द्रिय जीव हैं वे भी अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति आदिक गुणोंसे अभिन्न हैं। उनमें भी ऐसा ही पर-मात्मतत्त्व है, किन्तु उनके अनुभूति कहाँ? मन भी उनके नहीं है। उस अनुभूतिसे रहित जीवके द्वारा जो कर्म उपार्जित किए जाते हैं वे स्थावर नामकर्मके आधीन होनेसे ये ५ जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति स्थावर कहलाते हैं।

एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥११२॥

एकेन्द्रियोंके मनपरिणामका अभाव—ये सब जीवसमूह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, ये ५ प्रकारके समूह मनके परिणमनसे रहित हैं और एकेन्द्रिय कहलाते हैं। इन सबके स्पर्शन इन्द्रियावरणका क्षयोपशम है और शेषकी चार इन्द्रियावरणोंका उदय है और नोइन्द्रियावरणका भी उदय है। ऐसी स्थितिमें यह जीव एकेन्द्रिय और असंज्ञी होता है। ऐसा किन्हीं भी जीवोंके सम्बंधमें समझ लो। जो आज चारइन्द्रिय जीव है उसके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियावरण इन चारका तो क्षयो-पशम है और श्रोत्रइन्द्रियावरण तथा नोइन्द्रियावरणका उदय है। ऐसी स्थितिमें वे चारइन्द्रिय और असंज्ञी होते हैं। ये समस्त असंज्ञी जीव मनके परिणमनसे रहित हैं। इन एकेन्द्रिय जीवोंको निरखकर अर्थात् पृथ्वी, जल आदिक शरीरोंको निरखकर लोगोंके चित्तमें यह आशंका रहती है कि इनमें जीव है कहाँ? पृथ्वीको देखकर कहां मालूम पड़ पाता है कि यह जीव है। तो इस एकेन्द्रियमें चेतनका परिणमन है, ऐसा सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्तपूर्वक सिद्धान्त की बात अगली गाथामें रख रहे हैं।

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥११३॥

क्रियाव्यापारहीनतामें भी जीवके सद्भावकी संभावनाका निश्चय—जैसे अंडेके अंदर पड़े हुए जीवके गर्भमें रहने वाले जीवके या किसी कारणसे मूर्छाको प्राप्त हुए बेहोश हुए जीवों के बुद्धिपूर्वक व्यापार कुछ नहीं देखा जाता। अंडेमें पड़ा हुआ जीव जो अभी पूर्ण कठोर

Version 1

अवस्थाको भी नहीं प्राप्त हुआ, वह कुछ हरकत करता है क्या ? गर्भमें रहने वाला जीव जो अभी एक-दो माहका है वह पेटके अन्दर कुछ हरकत करता है क्या ? ऐसे ही जो मनुष्य मूर्छित हो जाते हैं, मदिरा पीकर अति बेहोश हो जाते हैं उनके तो हाथ पैर भी नहीं डुलते हैं, उनमें बुद्धिपूर्वक कुछ भी व्यापार नहीं देखा जाता। फिर भी जिस प्रकारसे लोगोंके चित्त में यह बात रहती है कि इसमें जीव है, उनमें जीवपनेकी बात निश्चितकी जाती है उसी प्रकारसे यद्यपि एकेन्द्रियके भी बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जानेकी समानता है उन अंडस्थ गर्भस्थ जीवोंकी तरह, फिर भी इनमें चैतन्यका निश्चय है।

एकेन्द्रिय जीवोंमें जीवत्व—भैया ! पेड़ोंमें तो स्पष्ट समझमें आता है कि ये जीव हैं, ये फलते हैं, फूलते हैं, सूखते हैं, हरे होते हैं। इससे लोग जानते हैं कि इनमें जीव है। वृक्षोंके सम्बन्धमें लोगोंको संदेह नहीं है। सब लोग समझते हैं कि इनमें जीव है। कोई कहींसे पेड़ का छोटा पौधा लाये और उसे लगाये। वह पौधा सूख गया तो लोग कहते हैं कि पौधा मर गया और वह पौधा हरा भरा हो गया तो लोग कहते हैं यह पौधा हरा भरा हो गया, जी गया। उस सम्बन्धमें तो लोग निश्चय रखते हैं कि इनमें जीव है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चारके सम्बन्धमें कुछ हैरानी-सी होती है जीवके सिद्ध करनेमें। लेकिन सुना गया है कि पहाड़ बढ़ते हैं, ऊपरको उभड़ते हैं, जल भी वृद्धिगत होता है, अग्नि बढ़ती है और वायु तो तेज बहती ही रहती है। किसी प्रकारसे देखो—इनमें जीवत्वका निश्चय हो जाता है।

जीवभेदप्रतिपादनकी आवश्यकता—एकेन्द्रिय जीवका वर्णन इस गाथामें करके अब दो इन्द्रिय जीवका वर्णन किया जायगा। यह प्रकरण व्यवहार सम्यग्दर्शनका चल रहा है। और व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप बतानेके लिए जीवादिक पदार्थोंका वर्णन करना आवश्यक है। इन जीवादिक पदार्थोंका जैसे वे हैं तैसे ही श्रद्धान करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा है। उस ही सिलसिलेमें यह जीवके भेदका प्रतिपादन है। जीव दो प्रकारके हैं— संसारी और मुक्त। संसारी जीव दो प्रकारके हैं—मनरहित और मनसहित। उनमें से मन रहित जीवका वर्णन चल रहा है। ये सब एकेन्द्रिय जीव मनके परिणमनसे रहित हैं।

संवुक्कमादिवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते वेइंदिया जीवा ॥११४॥

दो इन्द्रिय जीव—शंख, सीप, क्षुद्रशंख, गेड़ुवा, जौंक, सुरसुरी आदि ये सब कृमियाँ दो इन्द्रिय जीव हैं। ये रस व स्पर्शको जानते हैं। इनके स्पर्शनइन्द्रियावरण और रसनाइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है। शेष इन्द्रियावरणका उदय है तथा नोइन्द्रियावरणका भी उदय है, ऐसी स्थितिमें ये दोइन्द्रिय जीव स्पर्श और रसके जानने वाले होते हैं, परन्तु इनके मन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं है। जीवोंके शरीरकी रचना भी कितनी विचित्र-विचित्र पायी जाती है? ये दो इन्द्रिय जीव भी कैसे विचित्र शरीर वाले हैं जैसे कि एकेन्द्रिय जीव अनेक विचित्र शरीर वाले हैं। पीपलके पेड़ कैसे, गेहूं, चनोंके पेड़ कैसे, बेलका फैलाव कैसा, नाना प्रकारकी वनस्पतियाँ हैं और साधारण वनस्पतियाँ तो और भी सूक्ष्म नाना हैं। पृथ्वी भी कितने प्रकारकी हैं? सोना, चाँदी, रत्न, हीरा, जवाहरात, तांबा, लोहा, पत्थर, मिट्टी इत्यादि। जैसे ये नाना प्रकारके शरीर हैं ऐसे ही दो इन्द्रिय जीवोंमें भी शरीरोंकी कैसी विचित्रतायें हैं?

विचित्र कायसंस्थान—यह विविध शरीर जीवको कैसे मिल जाता है, इसका कैसे ग्रहण होता है? इस सम्बन्धको कोई तीसरा जोड़ता नहीं है। जीवने जैसा परिणाम किया उन परिणामोंसे जैसा कर्मबन्ध हुआ उस उदयके अनुसार ये शरीर वर्गणायें इस प्रकार परिणम जाती हैं जीवका सम्बंध पाकर और यों निरख लो कि इस जीवके सम्बंधसे तो जीवका आकार बनता है और जीवके सम्बंधसे शरीरका आकार बनता है, जो कुछ भी आज दिख रहा है और उपयोगमें आ रहा है। देखो ना, यह दृश्यमान सब एकेन्द्रिय जीवोंका शरीर है। पत्थर, गाटर, कागज, कपड़ा, जो कुछ भी आपके ये बराबर उपयोगमें आ रहे हैं ये सब एकेन्द्रियके शरीर हैं। इनका यह आकार बन कैसे गया? ये पत्थर इतने लम्बे चौड़े कैसे हो गए? ये जब खानमें थे तो इनमें जीव था। उस एकेन्द्रिय जीवके कारण यह पत्थर बढ़ा था। यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बंधवश आकार प्रकार प्रकृतिसे हो गया है।

दोइन्द्रिय जीवोंसे अङ्ग उपाङ्गका प्रारम्भ—यह जगत चराचरमय है, इस चराचरमय जगतमें जीवत्व कितना है और अचेतनत्व कितना है, पुद्गलपना कितना है? ऐसा भेदविज्ञान इस जीवका एक परमसाधन है शान्तिके मार्गमें बढ़नेका। इस गाथामें दोइन्द्रिय जीवोंका वर्णन किया है। दोइन्द्रिय जीवसे अंगोपाङ्ग प्रकट होने लगते हैं। कितना ऊटपटाङ्ग इनके अंगोपाङ्ग होते हैं। बतावो जो गेडुवा है वह कितना लम्बा है, कहाँ नाभि है, कहाँ इसका मुँह है, किस तरह यह चलता है, कैसा इसका ऊटपटांग शरीर है? फिर भी इसके अङ्गोपाङ्ग प्रकट होते हैं, किस ही प्रकारका हो। यहाँसे अंगोपाङ्ग नामकर्मका उदय चलने लगता है।

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ॥११५॥

तीन इन्द्रिय जीव—इस गाथामें तीनइन्द्रिय जीवोंका प्रकार बताया गया है। ये जीव स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियजन्य ज्ञानके आवरण करने वाले कर्मोंके क्षयोपशमसे व्यक्त होते हैं। इनमें चक्षुरिन्द्रियावरण और श्रोत्रइन्द्रियावरणका उदय है और नोइन्द्रियावरणका भी उदय है। ऐसी स्थितिमें इस जीवके बाह्यमें तीनइन्द्रियां प्रकट हुई हैं—स्पर्शन,

Version 1

रसना और घ्राण। इन इन्द्रियोंके निमित्तसे ये जीव स्पर्श, रस और गंधके जानने वाले होते हैं, इनके आँखें नहीं हैं और मन भी नहीं है, ये सब असंज्ञी जीव हैं।

शक्तिका तिरोभाव व आंशिक आविर्भाव—यद्यपि शुद्धनयसे देखा जाय तो इन दो इन्द्रिय तीनइन्द्रिय आदिक कीड़ा मकोड़ा जैसे स्वरूपसे यह आत्मतत्त्व पृथक् है। केवलज्ञान, केवलदर्शनसे यह अभिन्न है, अपनी ज्ञानशक्तिमय है, लेकिन ऐसे शुद्धज्ञानस्वरूपकी भावना जब नहीं रहती तो ऐसे ऐसे नाना शरीर मिलते हैं। इन जीवोंमें मन नहीं है। सो ये जीव भावना कर ही नहीं सकते। हाँ मनसे कुछ भावना चल सकती है, सो इनके भावनाका साधनभूत मन भी नहीं है। तो जब भावना न बन सकी तो आत्मतत्त्वकी भावनासे जो सहज आनन्द प्रकट होता है उससे ये बिल्कुल शून्य हैं। हां वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे कुछ इसमें ऐसी व्यक्ति हुई है कि ये दो इन्द्रियोंसे अथवा तीन इन्द्रियोंसे कुछ सुख ले सकते हैं। ऐसे ही परिणामोंमें रहता हुआ यह जीव तिर्यंचगतिको भोगता है और अपनी जातिके अनुकूल विषयोंमें उन्मत्त रहा करता है।

तीनइन्द्रिय जीवकी परिस्थिति—तीनइन्द्रिय जीवोंके कुछ नाम ये हैं, जैसे—जुवां, खटमल, चींटी, बिच्छू गिजाइयां, सुरसुरी और भी जो कीड़े फिरते हैं, जिनके ४ पैरसे अधिक पैर रहते हैं और चलते हैं, उड़ नहीं सकते, ऐसे जीव ये तीनइन्द्रिय हैं। ये सब जीव स्पर्श, रस, गंध आदिकको जानते हैं। मोही जीवोंके विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वकी सुध नहीं रही और इसी कारण आत्मीय आनन्दका परिचय नहीं रहा, वे अपने आनन्दसुधासे च्युत हो गए और वे इस ही इन्द्रियके स्वादमें मूर्छित हो गये, ऐसे जीवोंके द्वारा जो जो इन्द्रिय जाति नामकर्म बंधा है उस कर्मके उदयके आधीन होकर यह जीव तीनइन्द्रिय बनता है। इनके वीर्यान्तिरायका क्षयोपशम है। कुछ शक्ति तो प्रकट है और स्पर्शनइन्द्रियावरण, रसना इन्द्रियावरण, घ्राणइन्द्रियावरणका भी क्षयोपशम है, किन्तु श्रोत्रइन्द्रियावरण और चक्षु-इन्द्रियावरणका उदय है जिससे आंखोंका निशान तक भी प्रकट नहीं हुआ है। ये जीव मन-रहित हैं।

इन्द्रियोंका क्रमिक अभ्युदय—कोई मनुष्य जन्मसे ही अंधा पैदा हो और ऐसा ही अंधा हो कि जिसकी आंखोंके गोलक ही न प्रकट हुए हों, जैसे गोल और सफेद आंखके गोलक हैं वे गायब हों, ऐसा भी मनुष्य पैदा हो तो भी उसके चक्षुइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है, वह न देख पा रहा, न देख पायगा चाहे अपने उस जीवनमें, लेकिन चक्षुरिन्द्रियावरणका क्षयोप-शम अवश्य है। ऐसा नहीं हो सकता कि चक्षुरिन्द्रियावरणका क्षयोपशम न हो और श्रोत्र-इन्द्रियावरणका क्षयोपशम हो जाय।

इन्द्रियोंके आविर्भावके क्रमका अनतिक्रम—ये पाँचों इन्द्रियाँ क्रमसे व्यक्त हैं अर्थात्

जो तीनइन्द्रिय जीव हैं उनके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन ही इन्द्रियाँ होंगी। क्रमसे अतिक्रम न होगा कि किसीके ऐसी तीनइन्द्रियाँ बन जायें कि स्पर्शन, रसना और चक्षु इस तरह के अतिक्रमसे इन्द्रियाँ नहीं होंगी। इस प्रसंगमें एक बातका और अनुमान कर लो। जिस जीवकी जो अन्तिम इन्द्रिय होती है वह अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा प्रायः अधिक प्रबल होती है। जैसे दोइन्द्रिय जीवोंके मुख हो गया है तो अब उनको मिट्टी वगैरह खानेका निरन्तर काम पड़ रहा है। चींटीके घ्राणइन्द्रिय प्रकट हो गयी तो उसके नाकका गंधका ऐसा तीव्र विषय है कि आप मिठाई किसी जगह रखे हों वहाँ चलकर वे चींटियां पहुंच जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्य की अन्तिम इन्द्रिय है मन। यद्यपि मन अनिन्द्रिय है तो भी यह छठी चीज मिली तो है। यह मन अंतःकरण है, अन्दरकी इन्द्रिय है। तो हम आप लोगोंके मनका कितना तीव्र विषय है? पल भरमें कितनी घटनाएँ मनमें ग्रहण कर लेते हैं और प्रायः करके यह मनुष्य अथवा जो भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके अधिकतर मनका ही सुख और दुःख रहता है। यह कभी इन्द्रियजन्य सुखको भोगे तो भी उसके साथ मनका विशेष हाथ है। और इस मनके सहयोगसे सुख दुःखका अनुभव अधिक कर डालते हैं।

उपद्रवी मन—भैया! बहुत उपद्रवी कोई अपने आपमें पड़ा हुआ है तो यह मन है। कैसा कठिन मन है कि यह पकड़में नहीं आता, बंधनमें नहीं आता, दिखाया नहीं जा सकता, किसी दूसरेके कैद भी नहीं कराया जा सकता। ऐसा यह अनियत फुर्तीला मन इस मनुष्यको परेशान किए हुए है। परमार्थदृष्टिसे निरखो तो इस जीवका स्वरूप तो केवल अमूर्त एक चैतन्यस्वभावमात्र है लेकिन जब इस स्वरूपको अपने उपयोगमें ग्रहण नहीं किया गया तो इसके अनन्तभय उत्पन्न हो गया। जीवका तो निर्भयस्वरूप है। इस भवकी मृत्यु भी आये तो भी जीवका कुछ बिगाड़ नहीं है, पर कोई जीवके इस परमार्थ स्वरूपपर दृष्टि दे उसके ही तो समझमें यह बात आयगी।

अज्ञानसे मायाजालका विस्तार—अहो निज परमार्थस्वभावपर दृष्टि न होने से बाह्य पदार्थोंमें इस जीवने अपनायत की है और जिसे यह अपना-अपना मान लेगा उस चीजके वियोगमें, विनाशमें इसे नियमसे अत्यन्त कठिन क्लेश होगा। तो क्लेशसे जिसे बचना है उसका उपाय तो सीधा-सा है कि किसी परपदार्थको अपना न माने, किन्तु यह बात जब कठिन हो रही है तब बड़ी-बड़ी समस्यायें सामने रक्खी हैं, परको निज माननेकी कल्पनाएँ न जगें तो जगतमें एक भी समस्या नहीं है। ये समस्याएँ, विपदाएँ, चिन्ताएँ, ये सब मोह जाल पर ही आधारित हैं।

शान्तिके अर्थ अपना कर्तव्य—शान्तिके लिए अपना कर्तव्य यह है कि अपने आपको सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र अनुभवमें लीजिए। परिस्थितिवश बाह्य कर्तव्य भी

Version

करने पड़ रहे हैं, पर वे कर्तव्य ढालकी तरह समझो। जैसे ढाल शत्रुके आक्रमणका निरोधक है ऐसे ही हम आपकी जो बाह्य परिस्थिति बनती है इस स्थितिमें अनेक संकटोंसे बचने के लिए ये सब ढाल हैं। प्रज्ञारूपी शस्त्रसे हम इन विभाव बैरियोंका विध्वंस करें और अपने आपके आनन्दधाम सहज चैतन्यस्वभावके रूपमें अनुभव किया करें। काम करनेको यही है। लेकिन इस कार्यके लिए प्रगति हमारी तभी सम्भव है जब हम वस्तुवोंके स्वरूपको यथार्थ समझ लेंगे। जब चित्तमें समा जाय कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही अपने स्वरूपमें तन्मय है। एक पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, यह बात चित्तमें जम जाय तो ज्ञानप्रकाश और परम सहजआनन्द इस जीवके प्रकट हो सकता है। हमने जैनशासन पाया है तो इससे सम्यक् श्रद्धानका लाभ उठा सकें, इसमें ही अपनी भलाई है।

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतंगमादीया।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंति ॥११६॥

चतुरिन्द्रिय जीव---संसारी जीवोंके भेदविस्तारमें चक्षुरिन्द्रिय जीवोंके प्रकारकी सूचना इस गाथामें दी गई है। जिन जीवोंके स्पर्शनइन्द्रियावरण, रसनाइन्द्रियावरण, घ्राणइन्द्रियावरण और चक्षुरिन्द्रियावरण इनका क्षयोपशम है और श्रोत्रइन्द्रियावरणका उदय है तथा नोइन्द्रियावरणका भी उदय है ऐसी स्थितिमें यह जीव चक्षुरिन्द्रिय जातिमें उत्पन्न होता है। ये जीव स्पर्श, रस, गंध और वर्णके जाननहार हुआ करते हैं, मनसे रहित भी होते हैं। ये जीव भी बहिरात्मा हैं। ये चार प्रकारके इन्द्रियोंके विषयसुखमें आसक्त रहते हैं। इनके निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञानकी भावना ही नहीं बनती। तब इस ज्ञानभावनासे उत्पन्न होने वाले समतारूपी आनन्दसुधा रससे ये विमुख रहा करते हैं। ऐसे जीवोंके द्वारा जो उपार्जित चक्षुरिन्द्रिय जातिनामक कर्म था, उसके उदयके आधीन ये चक्षुरिन्द्रिय जीव हुए हैं। इनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम है।

संसारी जीवोंमें वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमकी साधारणता---संसारके प्रत्येक जीव में वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम पाया जाता है अर्थात् चाहे वे निगोद भी क्यों न हों, कुछ न कुछ शक्ति वहाँ अवश्य प्रकट रहती है। वीर्यान्तराय कर्म उसे कहते हैं जो आत्माकी शक्तिका आवरण करे, उसमें विघ्न डाले। जैसे कोई भी संसारी जीव ज्ञानसे शून्य नहीं है, क्षुद्र से भी क्षुद्र संसारी जीव हो, सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक भी हो उसके भी उसके योग्य मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम पाया जाता है। क्षयोपशमका अर्थ है जहाँ सर्वघातीका उदयाभावी क्षय हो और उपशम हो तथा देशघातीका उदय भी साथ हो, ऐसी स्थितिमें ज्ञान कम रहता है, पर रहता है जरूर। ऐसे ही समग्र जीवोंके संसारियोंके वीर्यान्तरायका क्षयोपशम पाया जाता है वीर्यान्तरायका क्षय १२वें गुणस्थानमें होता है। वहाँ तक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्षयोपशम ही है। इन चक्षुरिन्द्रिय जीवोंके वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है और चार इन्द्रियावरणोंका भी क्षयोपशम है। तब चारइन्द्रियावरण व्यक्त हो गयी और श्रोत्रइन्द्रियावरणका उदय होनेसे मन भी नहीं मिला। ऐसे ये जीव चतुरिन्द्रिय जातिके होते हैं।

संसरणसृष्टिका हेतु और उसकी प्रतिक्रिया—इन संसारी जीवोंके भेदोंको सुनकर चित्तमें यह निर्णय बनाये रहना चाहिए कि एक निज सहजस्वरूपके परिचयके बिना और यह आत्मा स्वयं आनन्दमय है, ऐसी अनुभूतिके बिना यह जीव ऐसी-ऐसी योनियोंमें भटक रहा है। आज हम आपको जितना समागम मिला है यह समागम सदा साथ तो देगा नहीं, पर इन समागमोंमें आसक्त होकर हम जो एक मोह मिथ्यात्व पाप बढ़ाते हैं, इस पापके फलका भोगना भावीकालमें बनेगा। हम इतने सावधान रहें, इतने स्पष्ट रहें कि अन्तरङ्गमें कि जैसा सहजस्वरूप है तैसी ही दृष्टिके यत्नमें रहें। यथार्थता तो यह है, ऐसे स्वरूपकी सावधानी हम आपको मोक्षके मार्गमें ले जायगी।

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ॥११७॥

पञ्चेन्द्रिय जीव—अब पञ्चेन्द्रियके प्रकारकी सूचना इस गाथामें दी जा रही है। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च जो कि कोई जलचर हैं, कोई थलचर हैं, और कोई नभचर हैं, ये सब पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और शब्दके जाननहार हैं। इन सब जीवोंमें पञ्चेन्द्रियावरणका क्षयोपशम होता है। इनमें से जिनके नोइन्द्रियावरणका उदय है वे तो असंज्ञी पंचेन्द्रिय हैं। मानसिक ज्ञानका उनके विकास नहीं होता है। वे केवल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दको ही जानते हैं, पर जिनके नोइन्द्रियावरणका भी क्षयोपशम होता है वे जीव संज्ञी हैं। इन समस्त पञ्चेन्द्रियमें से देव, मनुष्य और नारकी जीव ये तो नियमसे मन-सहित ही होते हैं। तिर्यंचोंमें दोनों प्रकारके पंचेन्द्रिय पाये जाते हैं। कोई पंचेन्द्रिय सैनी और कोई असैनी, उनमें भी प्रायः सैनी पंचेन्द्रिय होते हैं, असैनी पंचेन्द्रिय अत्यन्त कम हैं।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियोंके भेद—पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके ये तीन भेद किए गए हैं—जलचर, थलचर और नभचर। ये तीन भेद पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके हैं अर्थात् जो जीव पंचेन्द्रिय हैं और तिर्यंच हैं उनके ये प्रकार हैं। जैसे इनका अर्थ है ना—जो जलमें चले सो जलचर, जो थलमें चले सो थलचर और जो आकाशमें चले सो नभचर। इन शब्दोंकी व्याख्यामात्र ही सुनकर जो इन भेदोंका स्वरूप समझते हैं उनसे पूछा जाय कि बतावो मक्खी कौन चर है? तो अक्सर ऐसा उत्तर देने लगते हैं कि नभचर होगी, क्योंकि वह तो आकाशमें उड़ती है, लेकिन मक्खी कोई चर नहीं है, क्योंकि तीन भेद पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके किए गए हैं। मक्खी उड़ती है, तिर्यंच भी है, पर पंचेन्द्रिय नहीं है। और पूछा जाय कि बतावो मनुष्य कौनसा चर है? तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लोग अक्सर उत्तर देते हैं थलचर है, जमीनपर मनुष्य चलते हैं। ठीक है, जमीनपर चलते हैं, किन्तु मनुष्यको यहाँ थलचर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये तीन भेद पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके कहे गए हैं। मनुष्य भले ही थलपर चलता है, पञ्चेन्द्रिय भी है, किन्तु तिर्यंच नहीं है। इन तीनके प्रति पूछा जाय तो जो पञ्चेन्द्रिय हों और तिर्यंच हों उनमें छांटना चाहिए कि ये जलचर हैं, थलचर हैं या नभचर हैं ?

इन्द्रियविषयव्यामोहका फल—संसारके ये जीव इन्द्रिय सुखोंमें आसक्त होकर बहिर्मुख हो जाते हैं अर्थात् आत्मस्वरूपमें न ठहरकर बाहरी पदार्थोंकी ओर अभिमुख होते हैं। यह एक उनका मोहका ही कार्य है। यह इन्द्रियसुख वास्तविक आनन्दसे अत्यन्त विपरीत है। वास्तविक आनन्द यह है जहाँ झूठे आनन्दका अंश भी न हो। इस इन्द्रियमें तो झूठा ही झूठा सुख भरा पड़ा है। ऐसे झूठे सुखको भोगनेमें मौज तो माना जाता है, पर शान्ति नहीं कही जा सकती। वास्तविक आनन्द तो दोषरहित शुद्ध प्रतिभासस्वरूप ज्ञानस्वभावके ध्यानसे ही उत्पन्न होता है। ऐसे आनन्दसे विपरीत इन्द्रियसुखमें आसक्त होकर व किसी अंशमें अमूर्च्छित रहकर इस जीवने जो पंचेन्द्रिय जाति नामकर्मका बंध किया था उसके उदयको पाकर आज उनकी यह स्थिति है कि वे पंचेन्द्रिय हुए हैं और कोई-कोई तो नोइन्द्रियावरणके उदयसे असैनी हुए हैं, किन्हींके नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम मिला तो वे संज्ञी हुए।

मनका कार्य—मनका काम है कि मन वाले जीव शिक्षा उपदेश ग्रहण करनेकी योग्यता पायें। वे शिक्षा और उपदेश ग्रहण कर सकते हैं, विवेक पा सकते हैं। असंज्ञी जीवों में विवेकशक्ति नहीं होती है। जहाँ पंचेन्द्रियके भेद किए जायें वहाँ संज्ञी और असंज्ञी हैं। जहाँ संसारी जीवोंके भेद किए जायें वहाँ एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ग्रहण करके यह खोज लेना है कि एकेन्द्रियसे लेकर चारइन्द्रिय जीव तक तो शुद्ध असंज्ञी होते हैं। शुद्धका अर्थ है केवल, उनमें और न पाया जायगा, वे सिर्फ असंज्ञी असंज्ञी ही होंगे। पंचेन्द्रियोंमें कोई जीव संज्ञी होते हैं और कोई कोई जीव असंज्ञी होते हैं।

संज्ञाओंका असर—कुछ ऐसी आशंका की जा सकती है कि ये चीटियां अपना घर भी बनाती हैं, जमीनमें से एक-एक कण चोंचमें लाकर ठीक ऐसी जगह पटकती हैं कि जिससे उनका बिल न ढके, और सही क्रमसे डालती हैं। कहीं बहुत ऊपर खानेकी चीज मिठाई वगैरा रखी हो तो वहाँ पहुंच जाती हैं। इन बातोंको देखकर तो यह समझना चाहिए कि उनके भी मन है, विकल्प है तब इन्हें असंज्ञी क्यों कहा ? समाधान उसका यह है कि प्रत्येक जीवमें आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा—इन संसारी जीवोंमें दशम गुणस्थान तक सबमें जितना सम्भव है लगी हुई हैं, वे इस ही जातिस्वभावके हैं, उनकी गंध विषयमें प्रगति है। इससे उनके आहारसंज्ञा आदिककी चतुराई अधिक है, और वे आहारसंज्ञा, भय-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

संज्ञा आदि इनसे प्रेरित होकर इतना काम कर डालते हैं। मनकी सम्भावना उन जीवोंमें करनी चाहिये जिन जीवोंमें यह भी सम्भव हो सके कि वे कभी तत्त्वकी बात, ज्ञानकी बात, विवेककी बात भी ग्रहण कर सकें। मनसे कदाचित् आहार आदिक संज्ञावोंको भी करें तो वहाँ मनकी बात मानी जा सकती है। जहाँ शिक्षा, उपदेश, ग्रहण, विवेक ये कभी सम्भव ही नहीं हैं उन चेतनोंमें जो आहार वगैरहकी इतनी प्रवृत्ति देखी जाय वह सब इन संज्ञावोंके माहात्म्यसे होती रहती है।

उत्कृष्ट मन—मन तो परमात्मा आदि तत्त्वोंको भी जाननेमें समर्थ है। जो परमात्मत्व तीन काल, तीन लोकके समस्त पदार्थोंके जाननेमें समर्थ है ऐसे विशुद्ध तत्त्वको भी जानने की शक्ति मनमें है। उत्कृष्ट मनकी बात तो यों समझ लीजिए कि मन तो यद्यपि परोक्ष है, पर परोक्षरूपसे होकर भी परोक्ष परिच्छेदन करके भी एक सामान्यतया समग्रकी दृष्टिसे यह परोक्षज्ञान विषयमें केवलीप्रभुके समान है। वह कैसे ? इसे यहाँ देखिये—जिसको समस्त द्वादशांगका पूर्ण ज्ञान है और उनके मनके अनुसार सब परोक्षरूपसे, सामान्यरूपसे सब जान लिया गया जो कि केवलज्ञान जानता है। केवलज्ञानने जान लिया कि आकाश अनन्त है तो इस मनने भी जान लिया कि आकाश अनन्त है जाना अस्पष्ट, परोक्ष और स्थूलरूपसे। केवलज्ञानने स्पष्ट जाना और विशेष याने सूक्ष्मरूपसे भी जाना, आत्मीय शक्तिसे भी जाना, उसकी पद्धति और है, मनकी पद्धति और है, केवलज्ञानकी प्रत्यक्ष पद्धति है और मनकी परोक्ष पद्धति है। यह मन चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवके कभी भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार पंचेन्द्रियके प्रकार बताते हुए यह भेद कर दिया गया है कि देव, नारकी और मनुष्य ये तो नियमसे संज्ञी ही होते हैं। तिर्यंचोंमें पंचेन्द्रियमें दो प्रकार सम्भव हैं, चतुरिन्द्रिय तक असंज्ञी ही हैं।

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पपारा णेरइया पुढविभेयगहा ॥११८॥

चातुर्गतिक जीवोंका संक्षिप्त उपसंहार—अब पूर्वमें कहे गये संसारी जीवोंके प्रकारका इसमें कुछ चूलिकात्मक वर्णन है। देव चार निकाय वाले होते हैं। इनके देवगति नामकर्म का उदय है और देव आयुकर्मका उदय है इसके वशसे ये देव हुए हैं। देवगति नामकर्मका कार्य तो यह है कि देवगति नामकर्मके उदयसे उस देव भव वाले जीवके देवगतिके योग्य ही भाव और परिणतियां बनती हैं और देव आयुकर्मके उदयका कार्य यह है कि देवायुके उदयसे यह जीव देव शरीरमें रुका रहता। सो देवगति और देव आयुके उदयसे उत्पन्न हुए वे सब देव चार प्रकारके निकाय वाले हैं। कोई भवनवासी हैं, कोई व्यन्तर हैं, कोई ज्योतिषी हैं और कोई वैमानिक हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रथम पृथ्वीके भाग– जिस जमीनपर हम आप चलते हैं यह पृथ्वी बहुत मोटी है और इस पृथ्वीके तीन भाग हैं–खरभाग, पंकभाग और अव्वहुल भाग। ये यहाँसे एक हजार योजन नीचेसे हैं। यह ऊपरी भाग वह खण्ड न समझना। इसके नीचे तीन खण्डोंको समझो। यह प्रथम खण्डका ही ऊपरी भाग है, इनका नाम कितना अच्छा दिया गया है। कोई मनुष्य जैसे कुवां खोदता है तो सबसे पहिले खर अर्थात् सूखी मिट्टी निकलती है, और गहराईपर जानेपर फिर पंकसा निकलने लगता है फिर और गहराई पर जानेपर पानी निकलता है। तो यद्यपि ऐसी बात उन भागोंमें नहीं है, लेकिन यहाँ कुछ खोदनेपर जैसे तीन प्रकारको विशेषता मिलती है उसके अनुसार रूढ़िसे ये नाम रक्खे गए हैं, पहिला है खरभाग, दूसरा है पंकभाग और नीचे का हिस्सा है अव्वहुल भाग।

देवोंका निवास स्थान—ये भवनवासी और व्यन्तर खरभाग और पंकभागमें रहते हैं। पंकभागमें तो असुर जातिके देव और राक्षस नामके देव रहते हैं और शेष भवनवासी और व्यन्तर खरभागमें रहते हैं। इनमें ऊँचे मणिखचित सुन्दर भवन हैं और विशेष-विशेष भवनोंके निकट चैत्यालय हैं, अकृत्रिम सब रचना है, व्यन्तरोंमें तो कुछ व्यन्तर तो इस मध्य लोककी कई पुरानी जगहोंमें रहते हैं। कहीं द्वीप आदिकमें निचले स्थानपर रहते हैं, आकाश में भी अधर जहाँ चाहे रहते हैं, और कोई पुरानी जगह खंडहर विशाल पेड़ इत्यादिपर जैसी उनकी रुचि होती है उस रुचिके अनुसार इन जगहोंमें भी रहते हैं। ज्योतिषी देव सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे इन विमानोंमें रहने वाले हैं, वैमानिक देव स्वर्गोंमें और स्वर्गोंसे ऊपर सर्वारिसिद्धि पर्यन्त इन सबमें वैमानिक देव रहते हैं, ये सब संज्ञी जीव होते हैं।

देव देह—देवोंके शरीरमें अतिशय होता है। खून, पीप, हाड़, मांस, मज्जा इत्यादि अपवित्र चीजें उनके नहीं हैं। वैक्रियक जातिकी वर्गणायें उनके शरीरमें हैं, वे शरीरके अनेक बना लें, छोटा, बड़ा, लघु, वजनदार सब प्रकारका बना लें, ऐसी विविध ऋद्धियोंके वे स्वामी हैं। उनको कई पखवारे बाद तो श्वांस लेनेका कष्ट करना पड़ता है और कई हजार वर्षोंमें उनके भूख लगती है। सो गलेमें से अमृत झड़ जाता है, शान्ति हो जाती है कितना महान उनको सुख है, सुविधा है? हम आप लोग ऐसा सोच सकते हैं कि वे तो यदि खूब प्रभुभक्ति करें और आत्मध्यान करें, आत्माकी उत्कृष्ट साधना करें तो उनको तो सारा ही मौका है, लेकिन वे इस सुखमें रहकर ऐसे छोटे मन वाले हो जाते हैं कि उनके आत्मकल्याणकी विशेष जिज्ञासा और यत्न नहीं बनता। वे सदा असंयमी जीव रहा करते हैं।

मनुष्य जीव—मनुष्य गतिमें मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे और मनुष्यायुके उदयसे ये जीव मनुष्य हुए हैं। ये मनुष्य दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। जिन्हें खेती व्यापार आदिक कुछ करके आजीविका बनानी पड़ती है वे कर्मभूमिज हैं और जिन्हें स्वयं ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
खड़े हुए कल्पवृक्षसे सर्व इष्ट सामग्री प्राप्त हो जाती है वे भोगभूमिज हैं। तिर्यंच—तिर्यक्गति नामके उदयसे और तिर्यक् आयुके उदयसे यह जीव तिर्यंच होता है। समस्त स्थावर, गेडुवा आदिक दोइन्द्रिय, जू आदिक तीनइन्द्रिय, भंवरा आदिक चारइन्द्रिय तथा जलचर, थलचर, नभचर आदिक पंचेन्द्रिय अनेक प्रकारके तिर्यंच होते हैं।

नारकी जीव—नारकी जीव नरकगति तथा नरक आयुके उदयसे होते हैं। ये नारकी जीव ७ प्रकारकी पृथ्वियोंमें उत्पन्न होनेसे ७ प्रकारके कहे जाते हैं और उस ही हिसाबसे इनकी लेश्याएँ आयु और क्लेशके साधन सब हुआ करते हैं। उन भूमियोंके नाम प्रसिद्ध हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमः प्रभा। इन भूमियोंमें उत्पन्न होनेसे ये नारकी जीव ७ प्रकारके हो गए। नारकोंमें कैसे दुःख हैं—यह सब वर्णन करणानुयोग त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंमें कहे गए हैं। रत्नप्रभाको यह जानना कि वहाँ रत्न मौजूद हैं, किन्तु वहाँ उतना ही उजेला है जितना कि रत्नकी प्रभा होती है। बाकी तो अंधेरा ही है। अंधेरा बतानेके लिए इन सातोंका नाम बताया गया है।

जीवभेदपरिचयसे शिक्षा—ये देव, मनुष्य, नारकी पंचेन्द्रिय ही होते हैं और संज्ञी ही होते हैं। तिर्यंचोंमें भेद है—कोई तिर्यंच सैनी पञ्चेन्द्रिय होते हैं और कोई असैनी पञ्चेन्द्रिय होते हैं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय—ये जीव नियमसे असंनी ही होते हैं। इस प्रकार इस प्रकरणमें संसारी जीवोंका भेदविस्तार कहा है। वहाँ यह शिक्षा लेना है कि हम अपने आपकी ओर नहीं दृष्टि देते हैं। इसका फल यह है कि हमें इन नाना शरीरोंमें जन्म मरण करना पड़ता है।

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च तेवि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥११६॥

नवीन भव धारणका हेतु—पूर्वमें बाँधे हुए गति नामकर्मके क्षीण होनेपर और आयुकर्मके क्षीण होनेपर लेश्याके वश होकर अर्थात् लेश्यावोंके कारण जो नवीन गति नवीन आयु बँधी थी उनके उदयके आधीन होकर यह जीव अन्य गति और अन्य आयुको प्राप्त करता है। गति नामकर्म और आयुकर्मके कारण जो भव प्राप्त हुए हैं अर्थात् नरकभव, तिर्यञ्चभव, मनुष्यभव और देवभव—ये भव आत्माके स्वभाव नहीं हैं। यह जीव इन पर-उपाधियोंके उदय के वशसे नवीन-नवीन भवोंको धारण किया करता है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि मनुष्य भरकर मनुष्य बनता है, देव मरकर देव ही बनता है, पशु मरकर पशु ही बनता है तो यह कल्पना उनकी गलत है। जैसी गति जैसी आयु बँध गयी नवीन-नवीन, उसके अनुसार जीवों को भवोंमें जन्म धारण करना पड़ता है—मनुष्य मरकर देव, नारकी तिर्यञ्च कुछ बन जाय, तिर्यंच मरकर देव, नारकी, मनुष्य कुछ भी बन जाय। हाँ इन दो गतियोंमें नियम है कि देव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/
मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंच ही बनेगा, नारकी मरकर मनुष्य अथवा तिर्यञ्च ही बनेगा। ऐसा नहीं है कि जो जिस पर्यायमें है वह मरकर उस ही पर्यायको धारण करे। यह वर्तमान में चल रही गति और आयु जब फल दे चुकती है, इसका अन्त समय आता है, किसी प्रकार क्षीण हो जाता है तो अब नवीन जो गति और आयु उपार्जित किया था उसका उदय होनेपर वह जीव अन्य गतिको और अन्य आयुको, अन्य भवको प्राप्त होता है।

लेश्याका प्रभाव—यह सब अपनी-अपनी लेश्यापर निर्भर है अर्थात् अपने परिणामके आधीन है। जो जीव जैसी लेश्याके वश हो, वह उस प्रकारकी गति बाँधेगा। इस प्रकार लेश्यावोंके होनेसे उस-उस प्रकारकी गति बँधती है। यह लेश्या कर्मोंका बीज है। कषायके उदयसे अनुरञ्जित होनेकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। यह लेश्या कर्मलेपनका काम करती है। कुछ लीप दिया तो वह बँध गया। कर्मोंके लेपका कारण यह लेश्या है। केवल कषायसे भी लेप नहीं होता, केवल योगसे भी लेप नहीं होता। यद्यपि यह उदाहरण नहीं मिलता कि जहाँ केवल कषाय हो और योग न हो। लेकिन कषायका काम केवल कषाय है, उसको देख-कर और योगका काम केवल योग है उसको निरखकर फिर समझा जाय तो लेपका कारण कषायसे रंजित योग प्रवृत्तिको ही कहा जायगा। कषायका कार्य है स्थिति बाँध देना। ये कर्म इतने दिन रहें, लेकिन योगका काम है कर्मत्व परिणमन कर देना, कर्मोंका आना। कर्म आयें नहीं तो कषाय किसकी स्थिति बाँधे? यद्यपि किसी भी जीवमें ऐसा न मिलेगा कि कषाय तो है और योग न हो। यह तो मिल जायगा कि योग तो हो और कषाय नहीं है। जैसे ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानमें कषाय तो नहीं है और योग हैं, पर ऐसा कौनसा जीव है जिसके कोई भी योग न हो, और कषाय बन रही हो? नहीं है ऐसा कोई। तो भी कषायका कार्य क्या है? इसपर दृष्टि डालनेसे यह निर्णय होता है कि कर्मलेपका काम लेश्याका है। कषायसे सहित जो योग है वह कर्मलेपका कारण है।

लेश्याविनाशका उपाय—लेश्याका विनाश करना अपना कर्तव्य होना चाहिए। लेश्याका विनाश कैसे हो? उसका उपाय भावना है। यद्यपि मान, माया, लोभरूप जो चार कषायें हैं उन चार कषायोंका जो उदय है, विपाक है उससे यह मैं परमात्मतत्त्व न्यारा हूं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति स्वरूप जो मेरा स्वभाव है उससे मैं अभिन्न हूं। निष्कषाय और अनन्त चतुष्टयात्मक निज परमात्मतत्त्वमें जब भावना की जाती है यह मैं हूं, यह अमूर्त जिसके साथ किसी भी मूर्त पदार्थका आघात न हो सके और इसी कारण जो अछेद्य है, अभेद्य है, अव्यवहारी है ऐसा यह मैं परमात्मतत्त्व जब अपने आपकी नजरमें सही रूपमें दिखने लगता है तब कषायोंके विपाकका विनाश हो जाता है। अर्थात् वहाँ आकुलता नहीं रहती। क्षोभ वहाँ उदित होता है जहाँ अपने इस अमूर्त चैतन्यात्मक
Report any errors at vikasnd@gmail.com

आत्मतत्त्वकी दृष्टिको त्यागकर बाह्यपदार्थोंमें अपनायतकी बुद्धि कर ली जाती है, यह सब कुछ मेरा है, बस इस परिणतिकी नींवपर सारे क्षोभ और आकुलता बना करते हैं। जब यह जीव समस्त परभावोंसे भिन्न केवल चैतन्यस्वरूप निज आत्मासे अभिन्न परमात्मतत्त्वमें भावना करता है तब उसके कषायके उदयका विनाश हो जाता है।

योगनिरोधकी आवश्यकता—शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावनाके लिए शुभ अशुभ मन, वचन, कायके व्यापारका परिहार किया जाता है। मन, वचन, कायका जब अभाव होता है तो लेश्यावोंका भी विनाश होता है। करना क्या चाहिए? लक्ष्यमें तो यह हो कि मैं अपने उस शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्वकी भावना करूँ। करना तो यही चाहिए और इसके लिए वर्तमानमें उद्यम और क्या चाहिए? यह कि मन कुछ विकल्प न कर सके, किसी भी अन्य पदार्थमें उपयोग न जाय, विचारोंका विस्तार न बने, ये वचन न बोले जायें, इन वचनोंको रोक दिया जाय और यह काय भी हिले डुले नहीं, कोई प्रवृत्ति न करे, यों मन, वचन, कायको थामनेका उद्यम किया जाता है, इसलिए कि हम परमात्मतत्त्वकी भावनामें सफल हो जायें। तो यों जब योगपर हम काबू करते हैं और कषायके उदयमें नहीं जुटते हैं तो कषायके उदयसे रंजित योगप्रवृत्तिका अभाव होनेसे फिर गतिकर्म, आयुकर्म इनका बन्धन न होगा। बन्धन न होनेसे उदय भी न होगा। तब उसमें अनन्त सुख आदिक गुणोंकी प्राप्ति होगी। यह ही है मोक्ष लाभ। सदाके लिए संकटोंसे छूट जानेका उपाय निष्कषाय स्वस्वरूप मात्र इस निज चैतन्यमें ही उपयोग रमा लेना है। इसके प्रसादसे फिर यह जीव बन्धनसे छूट जाता है। यह उपाय न हो तो जीवोंकी स्थिति भवभवान्तरोंमें भ्रमण करनेकी बनी रहती है।

नवीनबन्धका दुष्परिणाम—भैया! जो कर्म जो गति व आयु आज है वह तो क्रमसे फल दे देकर क्षयको प्राप्त होगी। वह तो भलेके लिए है। बूढ़ा होना, मर जाना यह तो भले के लिए है, पर भलेके लिए तब है जब आगेकी गति और आगेकी आयुका बन्ध न किया जाय, पर ऐसा संसारी जीवोंमें हो कहाँ रहा है? यह वर्तमानगति वर्तमान आयु फल दे देकर नष्ट हो रही हैं। लेकिन अन्य गति और अन्य आयुका बन्ध हो रहा है, क्योंकि कषायें भी हैं, योगकी प्रवृत्ति भी है और इस ही पद्धतिसे यह जीव नवीन गतिको, नवीन आयुको प्राप्त करता है। पहिली आयु गति क्षीण हुई, नवीन आयु गतिकी प्रबलता हुई, नये-नये बने। इस प्रकार ये दोनों कर्मगति और आयु यद्यपि मेरे स्वभाव नहीं हैं फिर भी चिरकालसे ये बराबर संतान लगाये हुए हैं और इस आत्माको संसरण कराते रहते हैं। ऐसी है इन व्यामुग्ध जीवोंकी स्थिति।

आत्मानुभूतिका कर्तव्य—इस अकल्याणमय स्थितिके अभावके लिए कर्तव्य केवल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यही करना है कि हम अपने आपके स्वरूपको यथार्थदृष्टिमें लें। यह मैं आत्मतत्त्व रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित केवल चैतन्यस्वरूप हूं, अमूर्त हूं, अछेद्य हूं, अभेद्य हूं। यों अपने इस सहज स्वरूपके परिणमनसे इस आत्मामें शुद्ध वृत्ति जगती है, निराकुलताकी वृत्ति बनती है और इस वृत्तिमें जो सहज आनन्द प्रकट होता है बस वही तो आत्माका उत्कृष्ट रूप है। उस आनन्दकी अनुभूतिके प्रसादसे सर्वविभावोंका क्षय हो जाता है।

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ॥१२०॥

जीवका द्वैविध्य——ये जितने भी संसारी जीव निकाय कहे गए हैं वे देहप्रवीचारका आश्रय करने वाले हैं अर्थात् देहधारी हैं, देहमें रहने वाले हैं, देहमें अपनेको एकमेक करने वाले भी हैं, किन्तु सिद्ध भगवान देहरहित हैं, वे देहमें नहीं रहते, वे शुद्ध हो गए हैं अर्थात् जो यह केवल सत् हैं, आत्मा ही आत्मा अब रह गए हैं। न शरीरका सम्बंध है, न कर्मका सम्बंध है और इसी कारण न उनमें किसी प्रकारकी विभाव तरंग है। उनका आत्मा अपनी ही स्वरूपानुभूतिके कारण सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बना हुआ है। इस प्रकार जो देहप्रवीचारी हैं, सदेह हैं वे तो संसारी है और जो देहविहीन हैं वे मुक्तजीव हैं।

संसारियोंका द्वैविध्य——ये संसारी जीव यद्यपि सभी सदेह हैं, देहोंमें रहते हैं और इस पद्धतिसे वे सब एक प्रकार हैं तो भी ये संसारी जीव भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकार के हैं। भव्य उन्हें कहते हैं जो शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति करनेकी शक्ति रखते हैं, अभव्य उन्हें कहते हैं जो शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिकी शक्ति नहीं रखते हैं। जैसे मूँग कोई-कोई ऐसी भी होती है कि दिनभर भी बटलोहीमें आगपर रखी रहे तो भी नहीं पकती है, जैसे कुलड़ मूँग कहा करते हैं। अक्सर तो मूँग पकने वाली ही होती है। मानो मनभर मूंगके दानोंमें कोई एक दाना कुलड़ मूंगका होता है। अच्छे दानोंकी संख्या अत्यन्त अधिक है और ऐसे कुलड़ दानोंकी संख्या अत्यन्त कम है, लेकिन उनमें स्वरूप देखो मूंगका पाया जा रहा है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, हरित अवस्था ये सब वैसे ही वैसे हैं। सभी स्थितियोंमें वे मूँगके दानोंके समान होनेपर भी देखिये उस मूंगके दानोंमें तो पकनेकी शक्ति है और कुकड़ मूंगके दानोंमें पकनेकी शक्ति नहीं है। ऐसे ही संसारमें भव्य जीव तो अनन्तानन्त हैं, अभव्य जीव तो भव्य जीवोंके अनन्तानन्तवें भाग हैं, अत्यन्त कम हैं, किन्तु होते हैं कोई जीव ऐसे जिनमें शुद्ध आत्मस्वरूपके उपलब्धिकी शक्ति नहीं पायी जाती।

भव्य व अभव्योंमें समता व विषमता—सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता अभव्य जीवों के नहीं पायी जाती है, लेकिन जीवका जो लक्षण है वह दोनोंमें एक समान है, पर न व्यक्त हो पायेंगे वे इस तरह। जिसमें चैतन्यस्वभावका सद्भाव हो उसे जीव कहते हैं। ऐसा जीव-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पना जैसा भव्यमें है वैसा ही अभव्यमें है, कोई अन्तर नहीं है। ऐसे एक समान जीवत्वके होनेपर भी जो सम्यक्त्व प्राप्तिकी शक्ति व्यक्त नहीं कर पायेंगे उन्हें अभव्य कहते हैं। जैसे एक स्वर्णपाषाण होता है और एक अंधपाषाण होता है, ये दोनों ही स्वर्णमें पाये जाते हैं, पर एक पाषाणमें स्वर्ण व्यक्त हो जायगा और एक पाषाणमें स्वर्ण व्यक्त नहीं हो पाता, पर जाति तो वही है, ऐसे ही जीवत्व जातिसे समान होनेपर भी कोई जीव भव्य है और कोई जीव अभव्य है।

पारिणामिक भाव—यह भव्यपना और अभव्यपना न तो कर्मोंके उदयसे होता है न उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे होता है। यद्यपि मोक्षपर्याय तो व्यक्त नहीं होती, यह कर्मोंके उदयसे होती है, लेकिन इस जीवमें त्रिकाल भी मोक्षपर्याय व्यक्त करनेकी शक्ति नहीं है। इस जीवमें ऐसी बातका होना न कर्मके उदयसे है, न उपशम क्षय क्षयोपशमसे है। इस कारण भव्यत्व भावको पारिणामिक और अभव्यत्व भावको भी पारिणामिक कहा है। जीवके ५ भावोंमें पंचम भाव पारिणामिक भाव है। पारिणामिक भावके ३ भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। जीवत्वके भी २ प्रकार कहे हैं। जो १० प्राणों करके जीवे उसका भी नाम जीवत्व और एक चैतन्यस्वभावसे रहे, चैतन्य प्राणोंसे रहे, जिये, उसका भी नाम है जीवत्व। तो अब पारिणामिक भावको चार रूपोंमें निरख लीजिए। एक शुद्ध जीवत्व चैतन्यकी अपेक्षा जीवत्व और एक दस प्राणोंकी अपेक्षा जीवत्व। भव्यत्व और अभव्यत्व इनमेंसे चैतन्य प्राणों से जीवे ऐसा जीवत्व ही शुद्ध पारिणामिक भाव है। दस प्राणोंसे जिये उसके कारण कहलाने वाला जीवत्व अशुद्ध पारिणामिक है और भव्यत्वभाव और अभव्यत्वभाव भी अशुद्ध पारिणामिक है। तो ऐसे उस शुद्ध जीवत्वकी दृष्टिसे समान होनेपर भी संसारी जीव भव्य और अभव्य—यों दो प्रकारके कहे गये हैं।

जीवभेदव्याख्यानका प्रयोजन—यह प्रकरण है मोक्षमार्गके प्रतिपादनमें ९ पदार्थोंके वर्णनका। ९ पदार्थोंका स्वरूप जाने बिना मोक्षमार्गमें कदम क्या उठाया जायगा? सबसे प्रारम्भमें जो बात सीखना चाहिए उसका प्रतिपादन इस अधिकारमें सर्वप्रथम किया जा रहा है। ९ पदार्थोंमें सर्वप्रथम नाम है जीवपदार्थका। ये जीव कैसे-कैसे हुआ करते हैं इसका वर्णन यहाँ चल रहा है।

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवोत्ति य तं परूविंति ॥१२१॥

भेदोंमें जीवत्वका परमार्थसे अभाव—इससे पहिले जो जीवका विस्तार बताया गया है इसमें इन्द्रियोंका वर्णन है, कायोंका वर्णन है और उन वर्णनोंसे व्यवहारमें ऐसा विदित हुआ कि जो इन्द्रियाँ हैं ये ही जीव हैं। कोई एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय

Version 1

और पंचेन्द्रिय है, ये इन्द्रियाँ जो बाह्यमें दिख रही हैं ये ही सब जीव हैं, और ये ६ प्रकारके जो काय हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय, ये ही जीव हैं। ऐसी बुद्धि लोगोंकी व्यवहारमें क्यों बनती है ? इस कारण बनती है कि यहाँ सर्वत्र जीव और पुद्गलका परस्पर अवगाह पाया जा रहा है तो जो सामने दिखा, जिससे हमारा व्यवहार चलता है उसकी प्रधानतासे हम जीवकी प्रधानता करने लगते हैं और यह कहने लगते हैं कि ये सब जीव हैं और ऐसा व्यवहारनयसे है भी।

जीवनिकायोंमें अजीवत्वके एकान्तमें आपत्ति—यदि हम इन सजीव शरीरोंको अजीव ही सर्वथा मानकर अपना एक कोई निर्णय बना लें तो फिर हिंसा नाम किसका है ? जो जीव है असलमें उसे तो कोई छू नही सकता। उसकी हिंसा कोई क्या करेगा ? जिसको छुवा जाता है उसको एकान्तसे मान लिया अजीव पुद्गल, तो जैसे राखको चूर कर दिया तो उसमें हिंसा तो नहीं लगती, क्योंकि वह पुद्गल है, अजीव है, ऐसे ही इन कायोंको चूर देनेमें फिर हिंसा क्यों लगना चाहिए, ये भी पुद्गल हैं। तो यद्यपि ये सब जीव हैं व्यवहारनयसे, यह बात ठीक है, फिर भी निश्चयनयसे देखा जाय तो उन सब संसारी जीवोंमें जो ये स्पर्शन आदिक इन्द्रियां पायी जाती हैं ये सब जीव नहीं हैं, और पृथ्वी आदिक शरीर पाये जाते हैं ये सब जीव नहीं हैं, क्योंकि इनमें जीवका लक्षणभूत चैतन्यस्वभाव नहीं पाया जाता, इस कारण ये सब अजीव हैं, जीव नहीं हैं।

भवोंमें जीवत्वके प्रतिषेधका भाव—यहां एक सूक्ष्मदृष्टिका अन्तर भी निरखिये। इन ६ कायों और इन्द्रियोंको एक इस पद्धतिसे कहें कि ये जीव नहीं हैं और एक इस पद्धतिसे कहें कि ये अजीव हैं तो इनमें भी कुछ अन्तर आ जाता है। ५ इन्द्रियां और काय जीव नहीं हैं, इनमें तो संभाल बनी हुई है। जीव चैतन्यस्वरूप है, ये जीव नहीं हैं और ऐसा जोर दिया गया कि इन्द्रिय और काय ये सब अजीव हैं। इससे निर्णयकी संभालमें कमी आयी है। ये एकान्ततः अजीव ही हैं, पुद्गल ही हैं—इस प्रकारकी ध्वनि जगने लगती है। यद्यपि ये व्यवहारनयसे जीव कहलाते हैं तो भी निश्चयनयसे ये इन्द्रियां और ये काय जीव नहीं हैं, फिर कौन जीव है सो सुनिये।

परमार्थसे जीवत्वका निर्देशन—इन सब इन्द्रिय जातियोंमें इन सब द्रव्यास्तिकायोंमें अंतः जो स्वपरका परिच्छेदन करने रूपसे प्रकाशमान ज्ञान है वह ज्ञान ही जब गुणगुणीके कथंचित् अभेदरूपसे निरखा जाता है तो आपको विदित होगा कि लो यह जीव है, अर्थात् इन समस्त देहधारियोंमें जो प्रकाशमान एक ज्ञानभाव है वह ज्ञान ही जीव है। ऐसा सीधा कहनेमें थोड़ी अटक वह आ जाती है कि ज्ञान तो एक स्वभाव है, धर्म है, वह तो जीव नहीं है। जीवमें ही यह ज्ञान पाया जाता है, लेकिन जीव और ज्ञान भिन्न-भिन्न चीजें तो नहीं हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एक ही पदार्थको जब हम उसके किसी धर्मकी मुख्यतासे कहते हैं तो वह धर्म धर्मी बन जाया करता है। किसी भी धर्मीको कोई शब्दोंमें कह नहीं सकता। कहेगा तो किसी धर्मका नाम लेकर कहेगा। तो यह ज्ञान गुण हुआ और ज्ञानमें तन्मय पदार्थ गुणी हुआ। इस गुण और गुणीका अभेद करके जो बात निरखनेमें आती है वह ही जीव है ऐसा प्ररूपण करना चाहिए, ऐसा मानना चाहिए।

आत्मदृष्टिके लिये भेदपरिज्ञान—जीव पदार्थका प्रथम वर्णन चल रहा है, उसमें जीवके प्रभेदका कुछ अनेक प्रकारसे विस्तार किया गया है। इन्द्रियोंकी अपेक्षासे, शरीरकी अपेक्षासे, जन्म और मरणकी अपेक्षासे, भव्यत्व और अभव्यत्वकी अपेक्षासे यों अनेक प्रकारोंसे जीव पदार्थोंका वर्णन किया है। वे सब भेद विस्तार उपदेशकी बातें व्यवहारनयसे है। इनमें प्रयोजनीभूत जिसकी श्रद्धा करनेसे जीवको सम्यक्त्व होता है, शान्तिका मार्ग मिलता है उस जीवका स्वरूप यहाँ ध्यानमें लेते रहना चाहिये। ये इन्द्रियां और ये सब काय जीव निश्चयसे नहीं हैं, किन्तु इन सब देहके धारियोंमें जो अपनेको और दूसरेको जान लेनेका स्वभाव रखने वाला ज्ञान पाया जाता है उस ज्ञानको उस ज्ञानके आश्रयभूत उससे असंख्यात प्रदेशोंसे अभेदरूप कर देनेपर, क्योंकि स्वभावसे स्वभाववान भिन्न होता ही नहीं है, उस दृष्टिसे जो एक ज्ञानमयता दृष्टिमें आयी है उसे जीवरूप समझना चाहिए। और यह मैं हूं—इस प्रकारका विश्वास करके अपनेको निराकुल अनुभवमें लेना चाहिए।

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥१२२॥

जीवके कार्य व चेतन कार्य—इस गाथामें वे सब कार्य बताये जा रहे हैं जो जीवके सिवाय अन्य जीवोंमें न पाये जायें। यह जीव सबको जानता है, सबको देखता है, सुखको चाहता है, दुःखसे डरता है, हित अथवा अहितको करता है और उन हित अहित क्रियावोंके फलको भोगता है। इस गाथामें जानना, देखना, चाहना, डरना करना और भोगना—इन ६ बातों पर प्रकाश डाला है। जीव चैतन्यस्वभावी है। इस कारण कर्तामें रहने वाली क्रियाका याने जाननेका देखनेका जीव ही कर्ता हो सकता है। उस जीवसे सम्बधित पुद्गल कर्ता नहीं होता। जैसे आकाश आदिक पदार्थ जहाँ जीव हैं वहाँ आकाश है, फिर भी जानने देखनेका कर्ता आकाश आदिक नहीं हैं। इसी प्रकार जीवसे सम्बधित ये शरीर ये कर्म सब कुछ हैं, फिर भी ये जीवके परिणमनके कर्ता नहीं होते हैं। सुखकी इच्छा, कर्मरूप क्रिया और दुःखसे डरनेरूप क्रिया और अपने आपमें समझा गया जो हित अथवा अहित है उसके रचनेकी क्रिया तथा चैतन्यभावके विवर्तनरूप संकल्पसे उत्पन्न हुई भोगने रूप क्रिया इनका भी कर्ता जीव ही है, अन्य कोई नहीं है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सुखकी चाहना व दुःखसे डरना रूप कार्य—सुखकी इच्छा जीव ही कर सकता है, पुद्गल नहीं कर सकता। दुःखसे डरनेकी बात जीव ही कर सकता हैं, पुद्गल नहीं कर सकता है। एक स्वरूपकी बात है, इस बातको सुनकर ख्याल तो यह आ सकता है कि हम जीव न होते, पुद्गल ही होते तो भला था। इतने विकल्प, संकल्प, डर, शंकाएँ करनेका अवसर तो न होता, किन्तु कल्पनाएँ करना व्यर्थ है। जो पदार्थ जैसा है वह वही है। यह तो एक दुःखसे भयभीत होनेकी दृष्टिमें कल्पना उठती है। जब जीवके स्वरूपकी उत्कृष्टता सोची जाय तो सर्व लोकालोकको सर्व कालसे, सर्व देशसे, एक सामान्यतया निर्दोष रूपसे जाननेकी सामर्थ्य इस आत्मामें है। समस्त द्रव्योंमें सार उत्कृष्ट तो आत्मतत्त्व है। कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि हम अपनेमें से विभावोंको दूर करें, मिथ्यात्वको हटायें, अज्ञानभावको न पनपने दें, सबका जैसा स्वरूप है उस ही स्वरूपके जाननहार रहें तो इस प्रवृत्तिसे हमारी विजय होगी।

जीवका घातक भाव—इस जीवका घातक भाव तो मोह राग और द्वेष भाव है। इन मोहादिक भावोंसे आत्माका वह शुद्ध चैतन्यप्राण जो कि स्वयं आनन्दका अविनाभावी है, शुद्ध है, सारभूत है वह बरबाद हुआ जा रहा है, और इससे मोहकी तरंग जो उठती है उससे यह एकदम परोपयोगी हो गया। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जब यह जीव परोपयोगी होता है, परपदार्थोंकी ओर अपना उपयोग दौड़ाता है उस समयमें यह विह्वल हो जाता है और जब परसे उपयोग निवृत्ति करके एक अपने आपकी ओर ही झुकता है, अपना एकत्व स्वरूप अपनी दृष्टिमें रहता है, उस समय संकट सब विदा हो जाते हैं।

आत्माके एकत्व स्वरूपके स्मरणका प्रभाव—अभीके वर्तमान विचारोंसे ही देख लो—देशकी विकट स्थितिमें यद्यपि बहुत-बहुत संकटोन्मुखी विकल्पोंमें उपयोग रहता है और विचारणीय बातें भी होती हैं, फिर भी जिस कालमें यह दृष्टि जगे कि यह मैं आत्मा केवल निज स्वरूपमात्र हूं, अमूर्त हूं, न मेरा कोई देश है, न मेरा कोई घर है, न मेरा कोई शरीर है, ये तो क्षणिक समागम हैं। आज यहाँ उत्पन्न हैं, कल दूसरी जगह उत्पन्न हैं। मोही जीव जहाँ उत्पन्न होते हैं मोहवश वहाँको ही अपनाए रहा करते हैं। यह मैं आत्मा तो एक पक्षीवत् यत्र-तत्र विहार करने वाला हूं। यह आत्मा आज इस भवमें है, पहिले किसी भवमें था, आगे किसी भवमें होगा। जब इस मुझ एकाकी आत्माके सम्बंधमें एकाकीपनकी दृष्टि जगती है और तब ही इसे कुछ सन्तोष भाव होता है।

ज्ञानपद्धतिपर सन्तोषकी निर्भरता—सन्तोष बाह्य पदार्थोंसे नहीं होता, किन्तु यह सब ज्ञानकी कलावोंपर निर्भर है। ज्ञान किस पद्धतिका हो कि सन्तोष मिले, और किस पद्धतिका हो कि असन्तोष मिले? इसका खूब विश्लेषण कर लो तो अन्तमें यही सिद्ध होगा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि सब कुछ ज्ञानपर निर्भर है। हमारा सारा भविष्य किस प्रकारका बनेगा, यह हमारे ज्ञान पर निर्भर है। हम अपने ज्ञानका प्रयोग ज्ञानस्वभावपर करते हैं, अपनेको अकेला लखते हैं अर्थात् केवल चैतन्यस्वरूपमात्र सबसे न्यारा। मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं, जगतमें अनन्त जीव हैं, ऐसे ही समागममें आये हुए ये भी जीव हैं। वस्तुस्वरूपमें देखो तो सारे जीव मेरे स्वरूपसे न्यारे हैं, त्रिकाल भी मेरा और दूसरे जीवका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है, एकता नहीं हो सकती। जब भी अपने एकत्वस्वरूपपर दृष्टि जाय तो वहाँ शान्ति मिलती है।

तात्त्विक क्रियाके अवगमका प्रयोजन एकत्वविभक्तदर्शन—इस गाथामें इस जीवका शुद्ध और अशुद्धपनेका विभाग न करके एक सर्व साधारण, अन्य-अन्य साधारण कार्योंको बताया जा रहा है। यह जीव पदार्थोंके जाननरूप क्रियाका कर्ता है। इस जीवके साथ जो यह शरीर है, यह कर्म है, ये कोई भी इस जानन क्रियाके कर्ता नहीं हैं, इसी प्रकार देखनेरूप क्रियाके कर्ता नहीं हैं, ये हैं, पर ये रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं। यह शरीर था कहाँ ? जीव तो पूराका पूरा यह पहिले भी था जिस गतिसे मरकर आया है, इसने जिस गतिमें अपना स्थान बनाया, रुक गया, वहाँ जो बीजभूत शरीरके कारणभूत जो थोड़ीसी शरीरवर्गणायें थीं वे ही इस जीवके सम्बंधको पाकर बढ़-बढ़कर आज अंगोपाङ्गके रूपमें इतनी फैल गयी हैं। यह शरीर था कहाँ मेरा ? यह किस सम्बन्धसे इस प्रकारसे बनकर तैयार हुआ है ? माया रूप है। और यह शरीर रहेगा कब तक ? जैसे हम दूसरोंके शरीरको देखा करते हैं। जीवके चले जाने पर लोग अपने घरमें उसे दस–पाँच मिनट भी ठहरने नहीं देते, जल्दीसे जल्दी निकालकर जलानेकी या जमीनमें गाड़नेकी कोशिश करते हैं। यह शरीर मेरा है कहाँ ? जिस शरीरकी ममता करके सारा जीवन किरकिरा बना दिया जाता है। मैं तो इन सबसे भिन्न एक ज्ञानमात्र त्रिकालस्थायी तत्त्व हूं। यह जीव ही जानने और देखनेका कर्ता है।

चाहक्रिया—सुखके परिणमनकी ओर लगाव लगानेका जो यत्न है उस ही का नाम इच्छा है। इच्छा भी यह किसकी करता है ? मुझे सुख मिले। प्रत्येक जीव सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं। जिसमें जितनी योग्यता है वह अपनी योग्यताके अनुसार सुख प्राप्त करनेका यत्न करता है। दो इन्द्रिय जीव भी सुखी रहनेके लिए अपनेमें लिपट जायें, जमीन में बिल बना लें, जिन-जिन बातों को वे करते हैं वे सुखकी चाहसे ही करते हैं। पशुपक्षी जो जो भी कार्य करते हैं वे सुखकी चाहसे ही तो किया करते हैं। हाँ मनुष्य इन सब जीवोंसे बहुत बड़ा जानवर है। जानवर मायने जो ज्ञानमें बड़ा है। यह अपना महल बनाये, वैभव बनाये, ऐश्वर्य बढ़ाये। कितने-कितने साज श्रृङ्गार और कलावोंसे यह सुख पाना चाहता है।

तृष्णामें निरर्गल अभिलाषा—सर्व सुविधा होनेपर भी मनुष्यके सुख पानेकी इच्छा की सीमा नहीं होती। क्योंकि जितने भी जो कोई सुख प्राप्त हैं मोहके कारण उसे वह सुख

Version 1

नहीं जंचता है। आगेकी दृष्टि होती है, मुझे और भी सुख चाहिए। यों पाये हुए समागमोंमें जो भी सुख प्राप्त होता है उसमें सन्तोष नहीं होता है। जैसे कोई पुरुष एक लाखका धनी है तो उसे इस एक लाखके समागमका तो सन्तोष नहीं होता। उसके यह इच्छा रहती है कि मैं और धनी बनूँ तो उस तृष्णामें पाये हुए वर्तमान समागमका भी सुख नहीं ले पाता है। तो इच्छामें यह इतना बढ़ा हुआ है। इस इच्छाको यह जीव ही करता है विभाव नहीं करते, शरीर नहीं करते।

दुःखसे डरनेका कार्य—दुःखसे डरनेकी बात तो प्रायः सब संसारी जीवोंमें पायी ही जाती है। हर एक कोई दुःखसे डरता है और उन दुःखोंमें सबसे बड़ा दुःख माना जाता है मरणका। प्रत्येक जीव मरणसे डरते हैं और कोई लोग चाह-चाहकर मरण करते हैं। कोई लोग यह सोचते हैं कि बुरी तरहसे जिये तो क्या जिए। इससे तो मरना अच्छा है। वे बुरी तरहसे जीनेकी स्थितिसे इतना डरे हैं कि वे मरणको पसंद करते हैं, मगर दुःखसे भयशीलता प्रत्येक प्राणीमें पायी जाती है।

हिताहितक्रिया—५ वीं बात कही गई है कि यह जीव हित और अहितको करता है। शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग—तीन प्रकारके उपयोग ही तो हैं। कोई जीव शुभोपयोगका कर्ता है। कोई अशुभोपयोगका कर्ता है और कोई शुद्धोपयोगका कर्ता है। पर ये सभीके सभी जीव इस भावसे कर्ता हो रहे हैं, इस पद्धतिसे कर्ता हो रहे हैं कि यह हित है, इसे किया जाय और यह अहित है, इसे न किया जाय। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अशुभोपयोगसे अपना हित मान रहे हैं और शुभोपयोग व शुद्धोपयोग उन्हें विपदा जंच रहे हैं। उनके लिए उनका चित्त नहीं चाहता है। वे अशुभोपयोगसे हित मानते हैं और शुभोपयोगसे अहित मानते हैं, पर हितको करना और अहितको न करना, इस प्रकारकी जो वृत्ति है, इस क्रिया को करने वाला यह जीव ही हो सकता है, अजीव नहीं होता।

उपभोगक्रिया—छठवीं बात यह कही गई है कि यह जीव शुभ अशुभ कर्मोंका फल रूप जो उपभोग करता है, इष्ट विषयोंका भोगना, अनिष्ट विषयोंका भोगना अर्थात् सुख भोगना दुःख भोगना इनका भी कर्ता अर्थात् सुख दुःखका भोक्ता यह जीव ही है अन्य कोई नहीं हो सकता। जीव वास्तवमें भोगता किसे है ? यह अशुद्ध जीव वास्तवमें अपने अशुद्ध भावोंका भोक्ता हो रहा है। अपने परिणमनके सिवाय अन्य पदार्थोंके परिणमनको यह जीव भोग नहीं सकता है। पर व्यवहारदृष्टिसे और उसमें भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे देखा जाय तो यह द्रव्यकर्मका भोक्ता है और उपचरित दृष्टिसे देखा जाय तो यह विषयोंका भोक्ता है, भोजनका भोक्ता है, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिकका भोक्ता है, ये बातें उपचरित दृष्टिसे हैं।

नयविभागसे उपभोगका वर्णन—भोगनेके सम्बन्धमें ये तीन दृष्टियां लाइए। कोई

http://www.jainkosh.org

लोग यह कहते हैं कि यह वैभवका भोक्ता है। तो कोई लोग यह कहते हैं कि यह कर्मफलका भोक्ता है, कर्मोंका भोक्ता है, तो कोई लोग यह कहते हैं कि यह तो अपनी कल्पनाओंका भोक्ता है। ये तीन बातें तीन नयोंसे सही होती हैं। उपचारनयसे तो यह जीव विषयोंका भोक्ता है, अर्थात् विषयोंका और सुख दुःखका कुछ सम्बंध नहीं है, केवल भोगके परिणाम होनेके समय ये विषय ज्ञानके विषयभूत हो रहे हैं। लेकिन चूंकि उनका आश्रय कर-करके यह अपने परिणाम बनाता है, इस कारण उनका भोक्ता बताया जाता है। कर्मोंके साथ इस जीवका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। अशुभ कर्म उदयमें आते हैं तो इस जीवके अशुभ भाव बनता है, तो चूंकि उन कर्मोंका निमित्त पाकर यह विभाव बनता है, अतः कहा जाता है कि यह जीव कर्मोंको भोगता है, पर निश्चयनयसे देखा जाय तो यह जीव अपने आपमें जो सुख दुःखरूप परिणमन होता है उस परिणमनका भोक्ता है। कोई जीव शुद्ध हो तो शुद्ध निश्चयसे देखनेपर वह केवलज्ञानादिक रूप अनन्त चतुष्टय परिणमनको भोगता है। इस प्रकार शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध भावोंका भोगने वाला भी जीव है, अन्य पुद्गल आदिक नहीं हैं।

नव पदार्थोंमें प्रथम पदार्थका प्रकरण—यहाँ इस गाथासे यह सिद्ध किया गया है कि ऐसे-ऐसे असाधारण कार्य आत्माके ही सम्भव हैं, पुद्गल आदिकके सम्भव नहीं हैं। ६ पदार्थों के अधिकारमें यह जीवपदार्थका वर्णन चल रहा है। इनका सम्बंध मोक्षमार्गसे है। मोक्ष-मार्ग जिसके प्रकट होता है उसके प्रयोजनीभूत जिन नवपदार्थोंका श्रद्धान चलता है, उनमें से जीवपदार्थका यह वर्णन है। अब जीवपदार्थके वर्णनके समय उपसंहार रूपमें यह गाथा आ रही है।

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जयेहिं बहुगेहिं।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ॥१२३॥

अजीव पदार्थके वर्णनकी भूमिका—इस प्रकार अन्य भी अनेक पर्यायोंसे आत्माको जानकर ज्ञानसे भिन्न जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदिक भाव हैं उन चिह्नोंसे अजीवकी पहि-चान करो। यह गाथा जीव पदार्थके वर्णन और अजीव पदार्थके वर्णनकी संधिरूप है। जैसे कुछ ऊपर चिह्न बताये गए हैं कि इन-इन परिणमनोंको देखकर हम समझें कि यह जीव है इसी प्रकार व्यवहारनयसे इन सब परिणमनोंसे जो कर्म ग्रन्थोंमें बताये गए हैं—जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान इनके भेद प्रभेद उन सब प्रसंगोंके द्वारा भी उन विचित्र विकल्पोंसे भी तुम जीवतत्त्वकी पहिचान कर लो।

जीवका व्यवहारनयसे परिचय—ये गुणस्थान अजीवमें नहीं होते, जीवमें ही होते हैं। जीवके ही सम्यक्त्व गुण और चारित्रगुणकी अवस्था जो होती है वे गुणस्थान हैं, ये जीवके परिणमन हैं। जीव समास यद्यपि इन जीव समासोंमें जो एक दृश्य अंश है वह पुद्गल है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लेकिन यह सब कुछ होना जीवके सम्बंध बिना नहीं बनता। इस कारण जीवसमाससे भी हमें जीवका परिचय मिलता है। गतिमार्गणा नरक, तिर्यंच, मनुष्य आदिक गतियां ये सब जीवकी ही तो खोज कराती हैं। यह जीव है, यह एकेन्द्रिय है, यह दोइन्द्रिय है, यों इन्द्रियोंके द्वारा भी जीवकी खोज बनती है। यह सब वर्णन व्यवहारनयका है। इन गुणस्थान आदिक के द्वारा जीवका परिचय कराना व्यवहारनयसे है।

व्यवहारनयसे जीवका विविध परिचय—निश्चयनय तो केवल एक सहजस्वभावको दिखाया करता है। यह नाना परिणतियां बताने वाला व्यवहारनय ही है। ये ६ प्रकारके काय हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। यद्यपि ये सब शरीरके पिण्ड हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श इनमें हैं, इस कारण ये दृश्यमान अजीव हैं। किन्तु ऐसा काय, आकार जीवके सम्बंधके बिना नहीं बन सकता। तो उन कायोंका निर्णय करते हुए जीवका परिचय होता है, और भीतर चले तो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद निरखा। उन प्रदेश परिस्पंदोंको निरखकर हम जीवको ही ढूँढ़ रहे हैं। यह मनोयोग है, यह वचनयोग है, यह काययोग हैं—यों निरख-निरखकर हम उस जीवका ही परिचय पा रहे हैं। यों ही और भीतरी अनुभवपर दृष्टि डालते हैं तो वेद कषायरूपसे हमें जीवका परिचय मिलता है। तो इन वर्गणावोंसे हमने व्यवहारनयसे जीव ही जाना। और भीतर चलें तो ज्ञान द्वारा ज्ञानकी चेष्टावों से हमें इस ज्ञाताका ही परिचय मिला। यह मतिज्ञानी है, यह श्रुतज्ञानी है, इस प्रकार ज्ञानके उपायसे हमने जीवको ही खोजा। संयमके उपायसे भी तो हम जीवकी पहिचान करते हैं कि यह जीव संयमी है, यह असंयमी है। इस प्रकार संयमासंयमके भेद बताकर हम जीवका ही तो परिचय पाते हैं। यों ही दर्शन, लेश्या इन सब साधनोंके द्वारा हम जीवका परिचय पाते हैं, पर यह सब परिचय व्यवहारनयसे है।

निश्चयनयसे जीवपरिचयकी पद्धति—निश्चयनयसे तो दो प्रकारकी पर्यायोंमें परिचय मिलेगा—अशुद्ध पर्यायोंमें, शुद्ध पर्यायोंमें। मोह रागद्वेषके परिणमनसे यह विश्वरूपता, नानारूपता उत्पन्न हुई है। अशुद्ध निश्चयनयसे हम इन अशुद्ध पर्यायोंसे जीवका परिचय पाते हैं। और जब ये अशुद्ध परिणतियां नहीं रहती हैं तब शुद्ध निश्चयनयसे केवलज्ञानादिक शुद्ध परिणमनोंसे हम जीवका परिचय पाते हैं। जैसे केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्वमें गतिरहित, इन्द्रियरहित—इन भेदोंसे हम शुद्ध जीवका परिचय पाते हैं।

अजीवपरिचय—इस प्रकार जीवका परिचय प्राप्त करके अब उस अजीवका भी परिचय पावो जिस अजीवके सम्बंधसे जिस अजीवमें चित्त फंसाकर, जिस अजीवके प्रेमी बन-बनकर हमने अब तक नाना क्लेश भोगे हैं। एक अजीवका प्रेम न होता तो इस जीवको कष्ट क्या था ? अब भी जितना कष्ट है वह अजीव तत्त्वके प्रेमका कष्ट है। जिसमें चैतन्यस्वभाव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

नहीं है, जो ज्ञानसे अत्यंत जुदा है, जो अनेक लिङ्गोंसे, मायाजाल प्रपंचोंसे सहित है, आकार-प्रकार, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक लिङ्गोंके द्वारा जीवको पहिचानना, सभी अजीवोंको पहिचानना। कोई अजीव जीवसे सम्बद्ध है, कोई अजीव जीवसे सम्बद्ध नहीं है, मगर उन सभी अजीवोंको चाहे वह जीवसे सम्बद्ध हो, चाहे जीवसे असम्बद्ध हो उनसे भेदबुद्धि बनाओ। भेदबुद्धि बनानेके लिए अजीवको भी जानना होगा।

अजीवसे पृथक् होनेके उपायका अन्वेषण—जीव और अजीव जब अनादिकालसे एक सम्बंधमें चले आ रहे हैं, एक क्षेत्रावगाही हो रहे हैं, निमित्तनैमित्तिक बन्धन चल रहा है तो इस संकटको हम दूर तब कर पायेंगे अर्थात् इस अजीव तत्त्वको हम अपने स्वरूपसे जुदा तब ही कर पायेंगे जब हम पहिले समझ तो लें कि ये जुदे हो सकते हैं। ये अजीव मुझ जीवस्वरूपसे जुदे हो सकते हैं, यह बात तब समझी जा सकती है जब वर्तमानमें ही हमें ऐसा परिचय मिल जाय कि ये तो अब भी न्यारे ही हैं। इस अजीवका स्वरूप इस अजीवमें है, इस जीवका स्वरूप इस जीवमें है। जीवमें अजीव त्रिकाल नहीं आता, अजीवमें जीव त्रिकाल नहीं आता, इस प्रकारका पार्थक्य हमें वर्तमानमें भी समझमें आये तो यह बात प्रतीतिमें बन जायगी कि ये किसी दिन एकदम जुदे-जुदे हो सकते हैं। उस कैवल्यस्वरूपको पानेके लिए हमें अभीसे इन पदार्थोंसे भेदविज्ञान करके 'यह मैं आत्मा केवल निज चैतन्यस्वरूपमात्र हूं' ऐसी प्रतीति करनी चाहिए। इस प्रकार इस गाथा तक जीवपदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ।

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीव गुणा,
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥१२४॥

उपादेय व अनुपादेय पदार्थोंका निर्देश—जीव पदार्थका व्याख्यान करके अब जीव पदार्थसे विपरीत जो स्वरूप रखते हैं उन अजीव पदार्थोंका व्याख्यान किया जा रहा है। ये अजीव पदार्थ शुद्ध जीव पदार्थसे भिन्न हैं और ऐसा ही समझमें लानेके लिए अजीव पदार्थका वर्णन किया जाता है। इस जीवके उपादेयभूत शुद्ध जीव पदार्थ हैं अर्थात् इस जीवमें जो सहज निज ज्ञायकस्वभाव है तावन्मात्र ही मैं हूं, इस प्रकारकी रुचि करना, ऐसी ही दृष्टि करना और इसमें ही रमण करना, यही है शुद्ध जीवपदार्थकी उपादेयता। यह शुद्ध जीव पदार्थ अशुद्ध समयसार नामसे कहा जाता है। अपने आपमें जो औपाधिक भाव जगे हैं उन औपाधिक भावोंका स्वभावमें अधिष्ठान न मानकर केवल एक चैतन्यस्वभावमात्र अपनेको निरखना, यही है शुद्ध समयसारका ग्रहण। जीवादिक जो ९ पदार्थ हैं उनका जो कुछ भी वर्णन है उन सब वर्णनोंमें मर्मभूत अन्तर्गत लक्ष्य यही एक शुद्ध समयसार है। जो केवलज्ञानादिक अनन्त गुणोंके स्वरूप वाला है अर्थात् जिस स्वभावका शुद्ध विकास ही अनन्त ज्ञानादिक कहा जाता है जिसमें भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मका अभाव है। जहाँ नर-नारकादिक गतियोंका

Version 1

अभाव है, मतिज्ञानादिक विभाव गुणोंका अभाव है, ऐसा जो शुद्ध चैतन्यमात्र जीवास्तिकाय है वह उपादेयभूत है, उससे विलक्षण जो अजीव पदार्थ हैं उनका इस गाथामें वर्णन किया गया है।

चेतक और अचेतक पदार्थ—आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें जीवके गुण नहीं हैं, इस कारण इन पदार्थोंको अचेतन कहा गया है। अचेतनता तो केवल जीवमें है। चेतकपना उसे कहते हैं जो स्व और परका परिच्छेदक हो। जीवमें समस्त सत्‌के ज्ञान करने का स्वभाव है। ज्ञानमें स्वयं ऐसी सीमा नहीं पड़ी है कि ज्ञान यहाँ तक ही जाने। यह ज्ञान पदार्थके निकट जा जाकर जानता होता तो उसमें सीमा भी अनुमानमें लायी जा सकती थी। जहाँ-जहाँ यह ज्ञान जाता वहाँ वहाँका ज्ञान करता, किन्तु ज्ञानमें ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान अपनी जगह अपने आधारमें रहता हुआ यह जो कुछ सत् है उस सबका ज्ञाता हो जाता है। यों तीन लोक, तीन कालवर्ती समस्त पदार्थोंका परिच्छेदक यह जीव ही है, क्योंकि चेतकता इस जीवमें ही पायी जाती है। बाकीके समस्त द्रव्य चूंकि अचेतकताका सामान्यतया उनमें सद्भाव है अतः सभी अचेतन हैं। एक जीवमें ही चेतनता है क्योंकि समस्त जीवोंमें चेतनत्व पाया जाता है।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥१२५॥

अजीवमें जीवकी विशेषताओंका अभाव—जिसमें सुख दुःख होना, हितमें लगना, अहित क्रियायोंसे डरना—ये बातें नहीं पायी जातीं श्रमण साधुसंतजन उसे अजीव कहते है। सुखका अनुभवन करना, दुःखका अनुभवन करना, पदार्थका जानना, हितमें प्रवृत्ति करना, अहितसे डरना—ये सब बातें जीवमें ही दृष्टगत होती हैं। ये ५ बातें जिस पदार्थमें नहीं हैं साधु संतजन उसे अजीव कहते हैं। अज्ञानी जनोंने तो अपना हित स्त्री पुत्रादिकमें चन्दनमाला आराम शृङ्गार आदिमें समझा है। उसका कारण क्या है? जिसमें अज्ञानी जीव हितरूप समझते हैं ऐसे वैभवके समागमोंका कारण क्या है? मूल उत्तर तो पूर्वबद्ध पुण्यका उदय है। दान पूजा आदिक शुभपरिणामोंके फलमें पुण्य होता है और पुण्यसे यह वैभव प्राप्त होता है। अब उन प्राप्त वैभवोंका उपयोग करना यह ज्ञानी और अज्ञानीका जुदा-जुदा काम है। अज्ञानी जीव इन वैभवोंसे अपना हित मानते हैं और ज्ञानी जीव उन वैभवोंसे अपना हित नहीं मानते।

हित और अहितका विश्लेषण—ज्ञानी जीवका तो हित अक्षय अनन्त सुख है। वह अविनाशी अनन्त सुखमें स्वहित मानता है और उसके कारणभूत है परमात्मद्रव्य। जो निश्चय रत्नत्रयमें परिणत है ऐसा यह चैतन्यतत्त्व जो चेतन अपने आपके स्वरूपकी रुचि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करता है, अपने ही स्वरूपका ज्ञान करता है और अपने ही स्वरूपमें परिणमन करता है ऐसा यह चैतन्य पदार्थ ही हितरूप है, शरणभूत है, ऐसा भाव ज्ञानी जीवके रहता है। यहाँके ये समस्त दुःख ज्ञानी जीवको अहितरूप लग रहे हैं। आकुलताको उत्पन्न करने वाले ये समस्त मोह विभाव ज्ञानी जीवको अहित जंच रहे हैं। उस मोह विभावका कारण है मिथ्यात्व, रागादिकमें परिणमा गया बसा हुआ आत्मद्रव्य। इस प्रकार हित क्या है और अहित क्या है, इसकी परीक्षा जीवद्रव्य ही कर सकता है। भले ही कोई जीव अज्ञानवश अहितको हित मान ले, हितको अहित मान ले, किन्तु हित अहितके माननेकी कला जीवद्रव्यमें ही पायी जाती है।

जीव और अजीवमें भेद—हित और अहितकी परीक्षा करने रूप जो एक चैतन्य धर्म है वह चैतन्यधर्म विशेष अजीवके नहीं पाया जाता है, इस कारण आकाश आदिक सर्व पदार्थ अचेतन हैं। एक जीवद्रव्य ही चेतन है, इस प्रकार लक्षणके भेदसे जीव जुदा है, अजीव जुदा है अथवा अजीवमें व्यवहारमें आने वाला पदार्थ पुद्गल है। तो यहाँ यह ज्ञान कराया गया कि जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है। जुदा होनेपर भी आज जीव और पुद्गलका इतना घनिष्ट संयोग है, जीव और पुद्गलका घनिष्ट संयोग होनेपर भी उनमें ऐसा स्वरूप बदलता है जो उनका भेद प्रकट कर दे। भेदविज्ञानका कारणभूत स्वरूप अब अगली दो गाथावोंमें कहा जा रहा है।

संढाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य।
पोग्गलदव्बप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ॥१२६॥
अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१२७॥

संस्थानका आधार—पुद्गल द्रव्यमें बहुतसी गुण और पर्यायें हैं, जैसे कि संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक पर्यायें पुद्गलद्रव्यमें हैं। जिनको निरखकर यह निर्णय होता है कि यह पुद्गल द्रव्य है। संस्थान नाम आकारका है। द्वारका आकार, किवाड़का आकार, शरीरका आकार जो-जो भी पदार्थ लम्बे, चौड़े, मोटे आदिक आकारमें दिख रहे हैं ये आकार पुद्गलद्रव्यके धर्म हैं। आकाशका तो कोई आकार है ही नहीं, वह तो असीम है। धर्म, अधर्मद्रव्यका भी आकार नहीं है, किन्तु असंख्यातप्रदेशी अस्तिकाय है तो भी लोकाकाशप्रमाण फैला हुआ है और जो एक पूरा आकार है इसका तो आकार क्या कहा जाय? जो अनादि निधन आकार है, जिसमें न कभी एक प्रदेशकी कमी होती है, न कभी एक प्रदेशकी बढ़ोतरी होती है। जितने हैं ये धर्म अधर्मद्रव्य वे सब उतने ही रहेंगे। ऐसी जहाँ एकरूपता ही है शाश्वत, उसे आकार क्या कहेंगे? जैसा है तैसा है। जहाँ परिवर्तन होता है, अभी कुछ है, अभी कुछ बना वहाँ आकारकी आभा होती है। यों ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कालद्रव्य एकप्रदेशी है, वह भी निराकार है। जीवद्रव्य चित्प्रकाशात्मक है उसका स्वरूप आकारकी मुख्यतासे नहीं है। वह भावप्रधान तत्त्व है, पर वह चैतन्यप्रकाश चूंकि अस्तिकाय है और इसके साथ अनादिसे उपाधिका सम्बंध है, सो उपाधिके भेदसे इसमें आकारके भेद हो रहे हैं। जब यह जीव जिस शरीरको ग्रहण करता है उस शरीरप्रमाण इसका आकार हो जाता है। इस जीवमें स्वयं अपने आपके गुणके कारण अपने आपमें आकार नहीं है और यह आकार जीवका सहजस्वरूप नहीं है। आकार पुद्गल द्रव्यमें ही हुआ करता है।

संघातका उपादान—इसी प्रकार संघात बिछुड़े हुए मिल जायें, एक पिण्डरूप बन जायें, ऐसा संघात होना भी पुद्गल द्रव्यमें सम्भव है। जीव-जीव मिलकर पिण्ड नहीं बनते अथवा जीवके साथी अन्य कोई द्रव्य मिलकर पिण्ड नहीं बनते, केवल पुद्गल पुद्गल ही मिलकर ऐसे पिण्ड बन जाते हैं, एक स्कंध बन जाता है। ऐसा संघात होना यह पुद्गलद्रव्यमें ही सम्भव है।

वर्ण, रस व स्पर्शका आधार—वर्ण काला, पीला, नीला, लाल, सफेद और इनके तीव्र मंदसे अनेक भेद और इन रंगोंके मेलसे बने हुए अनेक प्रकारके वर्ण ये समस्त वर्ण पुद्गल द्रव्यमें ही हुआ करते हैं। पुद्गलको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें नहीं होता। पुद्गल ही मूर्तिक पदार्थ है। अमूर्त पदार्थमें वर्ण नहीं होता है। इसी प्रकार खट्टा, मीठा, तीखा, कड़ुवा, कषैला ये ५ प्रकारके रस और इनके तीव्र मंद भेदसे ये ही अनेक प्रकारके रस और इन रसों के मेलसे बने हुए नाना प्रकारके रस, ये सब पुद्गलमें ही सम्भव हैं। यद्यपि इन रसोंका जानने वाला जीव है, इसमें रस है, इसका कौन अनुभव करे? इसे समझने वाला जीव है, लेकिन यह जीव केवल समझता है, रस तो उन पुद्गलोंमें उन पुद्गलोंके कारण अपने आप है। रस भी पुद्गलद्रव्यमें उत्पन्न हुआ परिणमन है। इसी प्रकार स्पर्श मूलमें तो ये चार प्रकारके हैं—स्निग्ध रूक्ष शीत और उष्ण, पर इस परमाणुका जब संघात हो जाय, स्कंधरूप स्थिति बन जाय तो इसमें भारी, लघु, कोमल और कठोर—ये चार परिणमन भी हो जाया करते हैं। ये ८ प्रकारके स्पर्श पुद्गलद्रव्यमें ही हैं, अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं हैं।

गन्ध और शब्दका उपादान—इसी प्रकार यह गंध जो कि सुगंध और दुर्गंधके भेदसे २ प्रकारका है, किसीको सुगंध इष्ट है, किसीको दुर्गन्ध इष्ट है और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार वह इन गंधोंमें रमण करता है, पर यह गंध तो पुद्गलमें ही सम्भव है, इसका जाननहार यह जीव है। यह गंध भी पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न हुआ परिणमन है। इसी प्रकार शब्द यह पुद्गलद्रव्यकी गुणपर्याय नहीं है, किन्तु महास्कंधके संघट्टनका निमित्त पाकर भाषावर्गणा जातिके स्कंधोंमें ध्वनिनामक यह द्रव्यपरिणमन होता है। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणकी परिणति नहीं है, किन्तु उन द्रव्योंका ही एक इस प्रकारका परिणमन है। शब्द भी पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हुआ पर्याय है। यह तो जीव और पुद्गलके संयोगमें भेदविज्ञान करानेके लिए पुद्गलके परिणमनकी बात कही है।

जीवकी अरसादिरूपता—अब जीवतत्त्वकी बात कहते हैं। यह जीव रसरहित है। रस गुण वाला हो तो रस वाला कहा जाय। रस गुणसहित तो पुद्गलद्रव्य ही होता है। यह आत्मा रस गुण वाला नहीं है और न इसमें रस गुणके कोई परिणमन आते हैं। रसका ग्रहण करने वाली यह पौद्गलिक जिह्वा नामकी द्रव्येन्द्रिय है, लेकिन रहो, यह एक बाह्यसाधनभूत है, परन्तु यह जीव इन्द्रियरूप भी नहीं है और इस जिह्वा द्रव्येन्द्रियके कारणसे जो रस का ज्ञान होता है वह रसका ज्ञान भी जीवस्वरूप नहीं है। वह भावेन्द्रिय रूप ज्ञान भी एक विकारभाव है, अथवा यह रस जैसे परिच्छेद्य होता है, ज्ञेय होता है इसी प्रकार इस द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियसे यह आत्मा ज्ञेय नहीं होता है। भले ही यह जीव रसके आस्वादनका परिच्छेदक है, वह क्षायोपशमिक भाव है, भावेन्द्रियरूप है, पर भावेन्द्रियरूप यह जीव नहीं है। यह तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र है तथा भावेन्द्रियके कारणसे यह रसकी तरह ज्ञानमें भी नहीं आता है। यह तो केवल सत्को ग्रहण करने वाला अखण्ड एक प्रतिभासस्वरूप ज्ञानमात्र है। रसके जाननरूप जो खण्ड ज्ञान है, रसको जाने ऐसा जो इस अखण्ड ज्ञानमें एक खण्डपना उत्पन्न होता है वह खण्डपना जीवका स्वरूप नहीं है। यह रस रूप भी नहीं होता। यह जीव अरस है। इसी प्रकार जीव रूपसहित भी नहीं गंधसहित भी नहीं और शब्दसहित भी नहीं।

जीव की अव्यक्तता—यह आत्मा अव्यक्त है। पुद्गलकी नाईं यह आत्मा ज्ञेय नहीं है, अथवा कभी-कभी यह क्रोधादिक कषायोंमें व्यक्त हो जाता है। समझमें आने लगता कि इसके क्रोधकषाय जगी है, इसके मान, माया, लोभ कषायें जगी हैं। क्रोधादिक कषायोंका समूह भी कभी-कभी व्यक्त होने लगता है। निर्मलस्वरूपकी जिन्हें उपलब्धि नही है, ऐसे जीवों की जो मिथ्यात्व रागादिक भावोंमें परिणति हो रही है ऐसे मन वालेके ये क्रोधादिक कषायें व्यक्त होनेका परिणाम होता है। पर यह परमात्मतत्त्व मेरा सहजस्वरूप है, इस तरह व्यक्त नहीं हो पाता है। यह तो स्वसम्वेदन ज्ञानद्वारा अन्तरात्मा पुरुषोंको अपने अंतःस्वरूप निर्विकल्प परमसमाधिमें व्यक्त होता है। यह आत्मतत्त्व अव्यक्त है।

जीवकी असंस्थानता———इस आत्मामें किसी प्रकारका संस्थान नहीं है। गोल हो, चौरस हो आदिक किसी भी प्रकारके संस्थान इस आत्मामें नहीं हैं। यह अखण्ड एक प्रतिभासस्वरूप है, परमात्मरूप है। यह संस्थान आदिक जो कर्मप्रकृतियोंमें बताये गये हैं उनके उदयसे इस भवमें संस्थान होता है। वह एक तो पौद्गलिक कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है दूसरे वह संस्थान रचना पौद्गलिक कर्मोंकी रचना है। यों यह असंस्थान है।

Version 1

जीवका अलिङ्गग्रहणत्व—यह आत्मतत्त्व किसी चिह्नके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता। जैसे धुवां देखकर हम अग्निका ज्ञान कर लेते हैं इस तरह कदाचित् हम कषाय आदिक देखकर इस अशुद्ध आत्माका ज्ञान तो कर लें, परन्तु जो शुद्ध आत्मा है उसका अनुमान नहीं बनता। उसका तो या प्रत्यक्ष होगा या कुछ न होगा। जैसे हम एक परोक्ष रूपके ज्ञानसे अशुद्ध आत्माको भाँप लेते हैं, इस प्रकार शुद्ध आत्माका भाँप परोक्ष ज्ञानसे नहीं होता, या तो भाँप होगा नहीं या भाँप होगा तो प्रत्यक्ष रूपसे होगा। रागादिक विकल्पोंसे रहित निजके स्वसम्वेदन ज्ञानसे प्रकट जो परम आनन्द है उस आनन्दमें स्थित उस आनन्दमें परिणत हुआ आनन्द रस जलसे जो सर्वप्रदेशोंमें भर गया है, ऐसे परमयोगसे ही आत्मा प्रत्यक्ष होता है। यह आत्मा अलिङ्ग ग्रहण है। किसी लिङ्गके द्वारा इस आत्माका ज्ञान नहीं होता।

जीवकी चैतन्यस्वरूपता—यह आत्मतत्त्व तो चैतन्यगुण वाला है। समस्त द्रव्योंको, उनकी गुण पर्यायोंको भूतकाल, भावीकाल और वर्तमान कालके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है वही तो सर्वज्ञ है। ऐसी सर्वज्ञताकी शक्ति प्रत्येक संसारी जीवमें पायी जाती है। वही शुद्ध चैतन्य है। हम अपने आपके इस चैतन्यस्वरूपको न जाननेके कारण अभी तक इस जगजालमें भटकने वाले बन रहे हैं। यह भटकना तो मंजूर हो रहा है, पर ऐसा साहस नहीं किया जा सकता कि किसी क्षण हम समस्त परभावोंसे भिन्न केवल निज सहज स्वरूपमात्र अपने आपको मान लें, हठ कर लें, एक दृढ़ता बना लें, मैं तो ऐसा एक अमूर्त चैतन्यतत्त्व ही हूं, सबसे निराला हूं, ऐसा यह मोही जीव माननेको तैयार नहीं हो पा रहा है, इसी कारण संसारकी भटकना बन रही है।

देहबन्धन—यह जीव कभी मगरमच्छोंके थूलमथूला शरीरमें बँधकर रहता है, कभी कीड़ा-मकोड़ा पेड़ोंके शरीरमें बँधकर रहता है। इस जीवकी कैसी अवस्था बन रही है? यह अवस्था अज्ञानके कारण है। हम अपने आपको सबसे विभक्त केवल चित्स्वरूपमात्र अनुभव नहीं करते। और यह अनुभव करते हैं कि जो यह देह है सो मैं हूं। यह देह ठीक रहे तो मैं ठीक हूं, इस देहका वियोग हो, मरण हो तो यह मेरा मरण है।

स्वरूपपरिचयके बिना कल्पनाबन्धन—लोग तारीफ करते हैं एक दूसरेकी, पर तारीफ करने वालेकी दृष्टि उस चैतन्यतत्त्वपर कहाँ रहती है? उनकी दृष्टि इस जड़ विभूति पुद्गल पदार्थोंपर रहती है, और यह जीव कल्पनामें यह मान लेता कि इसने मेरी स्तुति की है, इसने मेरी प्रशंसा की है। इतना मोहका जाल फैला हुआ है। हम परमात्माकी जातिके हैं, मेरा ऐसा शुद्ध स्वरूप है। जो सिद्ध भगवान हैं, जो केवल रह गए हैं, उस केवल परमात्मतत्त्वमें कहाँ आकुलता है, कहाँ चिंता है, कहाँ रंग है, कहाँ तरंग है? वह तो एक शुद्ध अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्दका अनुभव करने वाला है। ऐसी ही शक्ति हम आप सबमें मौजूद

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है, पर मनके स्वच्छन्द बने हैं, बाह्य पदार्थोंमें हम ममता बनाये हुए हैं, उनसे ही अपना महत्त्व मान रहे हैं और इस मोहवासनाके ही कारण अपने आपको हम ग्रहणमें नहीं ले पाते। अपनेमें बसा हुआ जो परम सहज आनन्द है उसके अधिकारी नहीं हो पाते।

भेदविज्ञानकी पूरकता—इस प्रकार जीव और पुद्गलके स्वरूपको जानकर इस आत्मा का वास्तविक भेद हमारे उपयोगमें रहना चाहिए। यह सम्यक् प्रकारसे मार्गकी सिद्धिके लिए वस्तुस्वरूपका भेद बताया गया है। इस भेदविज्ञानसे हम पुद्गलके स्वरूपको त्यागकर अपने स्वरूपमें आ सकते हैं और अभेदरूपसे एक चेतनका अनुभव करके हम केवल हो सकते हैं। इसके लिए भेदविज्ञानकी प्रथम आवश्यकता है, अतएव जिससे जुदा होना है यहाँ उस अजीव पदार्थका वर्णन किया गया है।

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥

सप्त पदार्थोंका उपोद्घात—जीव पदार्थ और अजीव पदार्थका वर्णन करनेके पश्चात् अब आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप, इन ७ पदार्थोंका वर्णन किया जायगा। अब वे ७ पदार्थ, वे ७ परिणमन कैसे उत्पन्न हुए हैं, उनका क्या स्वरूप है, इन सब बातोंका वर्णन करनेसे पहिले जो एक उपोद्घात करना आवश्यक है उस उपोद्घातके लिए इसमें जीव और पुद्गलकर्म इनके चक्रका इन तीन गाथावोंमें वर्णन किया है।

संसारी जीवसे परिणाम, कर्म और गतिगमनका सकारण उद्गमन—इस संसारी जीवके अनादिबन्धनके उपलब्धमें वशीभूत होनेसे स्निग्ध परिणाम होता है। मोह रागद्वेषका स्रोतभूत अज्ञानपरिणामसे मिला हुआ जो कुछ अध्यवसान भाव है उसे स्निग्धभाव कहते हैं और स्निग्धतामें द्वेष भी आ जाता है। मोह रागद्वेषमें जो इस जीवका अवसान होता है उसे अध्यवसान भाव कहते हैं। अध्यवसान भाव मोह रागद्वेषसे अलग नहीं है, फिर भी मोह रागद्वेषका लक्षण जुदा-जुदा है और उन सबमें एक सादृश्य बनाने वाला बंधका कारणभूत जो एक अज्ञानमय परिणाम है उसे अध्यवसान परिणाम कहते हैं। इसको कुछ और मोटे रूपसे खुलासा समझना हो तो यों समझिये—अध्यवसानमें २ शब्द हैं—अधि और अवसान अथवा अवसाय। जो अधिक हो, अपने स्वरूपमें न हो उस अधिकका भी निश्चय बना लेना, यह मैं हूं, यह मेरा है, इस प्रकारका लगाव रखना इसका नाम है अध्यवसान परिणाम। इस संसारी

Version 1

जीवके यह अध्यवसान परिणाम होता है और उस परिणामसे फिर पुद्गलपरिणामात्मक कर्म का बन्धन होता है, और उन कर्मोंसे फिर गतियोंमें गमन होता है।

गतिगमनसे देह, इन्द्रिय, विषयग्रहण व रागद्वेषका पूर्वकारणक उद्भवन—यहाँ तक इतनी बात कही गई है। यह है लो संसारी जीव। इससे उठा अध्यवसान परिणाम। उस परिणामसे हुआ पुद्गल कर्मका बन्ध और उस पुद्गल कर्मके बन्धसे उदयकालमें हुआ नरकादिक गतियोंमें गमन। इसके पश्चात् फिर इतनी बात और समझना कि गतियोंमें गमन हुआ, उससे मिला देह, और देहसे हुई इन्द्रियां, और इन्द्रियोंसे हुआ विषयोंका ग्रहण, और विषयों के ग्रहणसे फिर हुआ रागद्वेष।

पुनः पुनः चंक्रमण—अब वही चक्कर फिर लगावो। उस रागद्वेषसे हुआ कर्मबंध, कर्मबन्धसे हुआ कर्मोंके उदय कालमें गतियोंमें गमन, गतियोंके गमनसे मिला देह, देहसे हुई इन्द्रियां, इन्द्रियोंसे किया विषयोंका उपभोग, उससे हुए रागद्वेष। इस प्रकारसे यह चक्र इस जीवका अनादिकालसे चल रहा है। यह एक विशिष्ट संयोग परिणामसे हुए निमित्तनैमित्तिक भावका वर्णन करने वाला उपोद्घात इसलिए करना पड़ा है कि यह बताये बिना पुण्य, पाप, आस्रव आदिक पदार्थोंकी उत्पत्ति विदित नहीं हो सकती। क्योंकि यदि यह चक्र न हो, जीव और अजीवका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध न हो तो मोक्षका उपाय करनेकी आवश्यकता भी क्या?

पदार्थके परिणामित्व व अपरिणामित्वके एकान्तमें अनिष्ट प्रसंग—प्रथम तो यही बतावो कि अभी मूलमें जो दो पदार्थ कहे गए हैं जीव और अजीव ये पदार्थ परिणामी हैं या अपरिणामी हैं? यदि इन्हें परिणामी मानते हो यह परिणमनशील हैं तो यह परस्पर निमित्त पाकर परिणमन कर रहे हैं या स्वतंत्र होकर निमित्त बिना संयोग बिना केवल अपने आपमें परिणमन कर रहे हैं। यदि धर्मादिक द्रव्योंकी तरह पर-उपाधिके बिना अपने आपमें ही विषम परिणमन करते हैं तो फिर ७ पदार्थ कुछ नहीं रहे और फिर यह इन्द्रजाल यह मायाजाल फिर कुछ नहीं रहा। व्यवस्था क्लेश ये सब कुछ न रहने चाहिएँ। परस्पर एक दूसरे का उपाधि सम्बंध पाकर यह परिणमा करता है तो जीव और पुद्गलके संयोग परिणमनरूप कुछ बात हुई तो उस ही के आधारपर यह ७ पदार्थोंकी व्यवस्था बनेगी। यदि अपरिणामी ही मान लो तब दो पदार्थ जुदे-जुदे शुद्ध रह गये, फिर पुण्य पाप आदिक घटेंगे ही नहीं। तो बंध मोक्षका अभाव होगा।

कथञ्चित परिणामित्वमें व्यवस्था—यह जीव और अजीव पदार्थ अटपट परिणामी नहीं होता। ऐसा भी नहीं है कि जीव और पुद्गल मिल करके परिणामी बन जायें तो जीव और पुद्गलकी संयोग रूप कुछ एक चीज बन गई। वहाँ न जीव में कुछ रहा, न अजीवमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कुछ रहा, ऐसा एकान्त परिणामी भी नहीं है और एकान्तसे अपरिणामी भी नहीं है। कथंचित् परिणामी है और कथंचित् अपरिणामी है। दूसरेके परिणमनको ग्रहण नहीं करता, यों तो अपरिणामी है और अपने आपमें परिणमन करता रहता है यों यह परिणामी है। परिणामीका अर्थ है परिणमन करने वाला। अपरिणामीका अर्थ है कुछ भी परिणमन न करने वाला। यों कथंचित् इसे परिणामी माननेपर ही आस्रव बंध आदिक पदार्थोंकी व्यवस्था बनती है, फिर भी मूल पदार्थ तो ये दो ही रहे—जीव और अजीव।

सप्त पदार्थोंमें हेयत्व और उपादेयत्वका निर्णय—इन ७ पदार्थोंमें हेय और उपादेय का निर्णय करना ही इसकी जानकारीका प्रयोजन है। पुण्य और पाप ये दोनों एक संसाररूप हैं इस कारण दोनों ही हेयतत्त्व हैं। उनमें से किसी स्थितिमें पुण्यभाव उपादेय है और पापभाव सर्वथा हेय है। कुछ ऊँची भूमिकामें पहुंचनेपर इस जीवके कर्तव्यमें फिर दोनोंके ही दोनों भाव हेय तत्त्व हो जाते हैं। आस्रव और बंध ये दोनों हेय तत्त्व हैं। आस्रवका अर्थ है कर्मोंका आना और बंधका अर्थ है उन कर्मोंकी स्थिति पड़ जाना। ये दोनों ही हेयतत्त्व हैं, सम्वर और निर्जरा ये उपादेय तत्त्व हैं, कर्मोंका निरोध हो जाना सो सम्वर है और पूर्वबद्ध कर्मोंका छोड़ना सो निर्जरा है। इस प्रकार सम्वर और निर्जरा ये जीवके परमकल्याणके कारणभूत हैं, अतएव उपादेय तत्त्व हैं। और मोक्ष तो सर्वप्रकार उपादेय तत्त्व है, वह तो समस्त मोक्षमार्गके पुरुषार्थका अन्तिम फल है।

संवरभावका महत्त्व—एक विशेष बात यह भी समझिये कि मोक्ष हो जानेपर पुण्य नहीं रहता, पाप नहीं रहता, आस्रव नहीं है, बंध नहीं है और निर्जरा भी नहीं रहती, किन्तु सम्वर सदाकाल बना रहता है। सम्वरभाव मायने शुद्धोपयोग भाव। जिस भावके कारण कर्म न आयें उसका नाम सम्वर है। क्या सिद्ध भगवानमें इस सम्वरका अभाव है? यदि अभाव है तो अर्थ यह है कि कर्म आने लगे। इस कारण यह सम्वर तत्त्व कितना सारभूत और उपादेय है, जो सदा रहता है, शुद्धोपयोग होनेके बाद भी रहता है। हाँ इस दृष्टिसे देखो कि कर्म आनेकी गुँजाइश थी, ऐसी योग्यता वाले जीवके और कर्म न आ सकें उसका नाम सम्वर है तो ऐसे सीमित लक्षणमें देखनेपर सम्वर न भी माना जाय, पर सम्वरका मूलसे काम तो यह है कि कर्म न आने देना। शुद्धोपयोगका दृढ़ दुर्ग पाकर यह आत्मा सर्वप्रकारकी शंकावोंसे रहित रहता है। यों इन सात पदार्थोंमें हेयतत्त्व और उपादेयतत्त्व समझना।

हेय तत्त्व—अब सामान्यतया यों निरखिये कि दुःख हेयतत्त्व है। संसारका कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता है। उसका कारण है संसार। दुःख क्यों मिलता है? यह संसरण चल रहा है। यह संसारभाव है, इसके कारण दुःख प्राप्त होता है। संसारका कारण है आस्रव और बंध पदार्थ, और आस्रव और बन्ध इन दोनोंका कारण है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिथ्याचारित्र। यह तो हुई हेय व्यवस्था। जैसे कहते हैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। ऐसे ही कह लीजिए—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः। संसारके कारण ये मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं। तब हम शीघ्र दृष्टि डालें कि मेरा हेय क्या है ? तो यों कह लीजिए कि अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य परभावोंमें परमें आत्माकी प्रतीति करना यह भाव हेय है और इस ही पद्धतिसे परका ज्ञान करते रहना यह हेय है और परको सुखका हेतु मानकर उसमें रमण करना यह हेय है अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये हेय हैं।

उपादेय तत्त्व—उपादेय तत्त्वको निरखिये—सुख उपादेय तत्त्व है। तुम्हें क्या चाहिए ? उत्तर मिलेगा सुख, शान्ति। प्रत्येक जीव सुख चाहता है, और जितने भी यह प्रयत्न करता है वह सब सुख पानेके लिए ही करता है। चाहे कभी इसकी समझमें यह भी आये कि प्राण दे देनेसे सुख मिलेगा तो वहाँ प्राण भी दे देता है। प्राणघात कर देना भी अपने सुखके लिए समझा है। मरण करके भी यह सुख चाहता है। समस्त प्रवृत्तियोंका प्रयोजन इसका सुख प्राप्त करता है। तब उपादेय तत्त्व हुआ सुख। उसका कारण है मोक्ष। मोक्षका कारण है सम्वर और निर्जरा। सम्वर निर्जराके कारण हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। आत्माका जैसा अपने सत्त्वके कारण सहज स्वरूप है अमूर्त स्वयं ज्ञानज्योतिर्मय जैसा इसका स्वरूप है उस स्वरूप रूप अपनी प्रतीति करना, ऐसा ही ज्ञान करना और इस ही रूप रमण करना यह है उपादेयतत्त्व। इस प्रकार दो मूल पदार्थ हैं—जीव और अजीव, और उनके संयोगसे उत्पन्न हुए अथवा उनके प्रसंगसे उत्पन्न हुए ये ७ पदार्थ हैं। यों मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत श्रद्धान करने योग्य ९ पदार्थ बताये गए हैं।

भावनाओंमें एकत्वभावनाकी तरह तत्त्वोंमें संवरतत्त्वकी प्रमुखता—जैसे बारह भावनाओंमें एकत्वभावनाका बड़ा प्रमुख स्थान है और उस एकत्वभावनाका बहुत कुछ अन्तःमर्म चलता रहता है। कभी माना दुनियाके इन परिवारोंसे जुदा होनेके लिए—मैं तो अकेला हूं, मेरा यहाँ कोई साथी नहीं है, फिर इस देहसे भी जुदा समझनेके लिए माना कि मैं तो यह एक अकेला हूं, यह देह भी मेरा नहीं। फिर अन्तः जो विकल्प पिण्ड बना हुआ है उसमें भी इन विकल्पोंसे अपनेको जुदा करनेके लिए माना कि मैं तो एक अकेला हूं, इन विकल्पोंरूप भी मैं नहीं हूं। फिर अपने आपमें जो ज्ञानधारायें बहती हैं, ज्ञानपरिणमन चलता है वह चूंकि अनित्य है, क्षणिक है, पर्यायरूप हैं, वहाँ भी जुदा शाश्वत अपने स्वरूपको समझनेके लिए माना जाता है कि मैं केवल शुद्ध ज्ञानशक्ति मात्र हूं। इस एकत्वभावनाका बहुत अंतः विस्तार है, उपयोग है। ऐसे ही जानिये—इन ९ पदार्थोंमें सम्वरकी बड़ी प्रमुखता है।

संवरभावकी अनन्तता—सम्वर दो प्रकारके होते हैं—एक जीव सम्वर और एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अजीव सम्वर। जीव सम्वर नाम है शुद्धोपयोगका। रागद्वेषरहित शुद्ध चैतन्यकी अवस्था बनाये रहना इसका नाम है शुद्धोपयोग। यही है साक्षात् जीव सम्वर, जिस विशुद्ध स्थितिके कारण कर्मरूप परिणमन नहीं होता उस जीवके साथ कर्मबन्ध नहीं होता। कर्मोंको रोकने वाला परिणाम है तो जीवका यह शुद्धोपयोग है। इसीका नाम सम्वर भाव है। इस शुद्धोपयोगका, इस सम्वरभावका यदि कदाचित् विनाश हो जाय तो इसका अर्थ है अशुद्धोपयोग बन गया और अशुद्धउपयोग बना तो कर्म बन्धन होने लगा। इन सिद्ध भगवानका सदाके लिए कर्मोंका आना बन्द हुआ है या कुछ समयके लिए कर्मोंका आना बन्द हुआ है? सदा के लिए कर्मोंका आना बन्द है तो समझना चाहिए कि कर्मोंको न आने देनेमें समर्थ जो एक संवर परिणाम है, शुद्धोपयोग है वह सदाकाल रहता है।

नव पदार्थोंमें मूल आधार—नव पदार्थोंमें हम आपको उपादेयभूत संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन पदार्थ कहे गए हैं। अब ये ७ पदार्थ किसके आधारसे निकले हैं? उस बीजभूत पदार्थपर दृष्टि दें तो यही तो विदित होगा कि ये जीव और अजीव (पुद्गल) इनके संयोग परिणामसे बने हैं, सो इन ७ पदार्थोंके ये दो मूल कारण हैं। यदि आस्रव बंध न होते तो संवर निर्जराकी क्या जरूरत थी? इस दृष्टिसे जीव और पुद्गलके वियोग होनेपर भी जो संवर और निर्जरा तत्त्वकी बात कही गई है उसका भी सम्बन्ध जीव और पुद्गलके संयोगपर आधारित है।

संसारचक्र—इस तरह इन तीन गाथाओंमें यह बताया है कि यह जो संसारी जीव है उससे हुए परिणाम, परिणामोंसे हुआ नवीन कर्मबन्ध, उन कर्मोंके उदयसे हुआ गतियोंमें गमन, गतियोंमें प्राप्त होने पर हुआ देह, देहसे हुईं इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे हुआ विषयोंका उपभोग, विषयोपभोगसे हुए रागद्वेष, इस प्रकार संसारचक्रमें पड़े हुए इस जीवका परिभ्रमण हो रहा है यह संसार चक्रजाल अनादिनिधन है अथवा किसी जीवके अनादि सन्निधन है। किसीका यह चक्र समाप्त भी हो जाता है और किसीका यह चक्र समाप्त भी नहीं होता। अभव्य जीवोंके या दूरातिदूर भव्य जीवोंके यह संसारचक्र समाप्त नहीं होता है। निकटभव्य जीवोंका यह संसारचक्र समाप्त हो जाता है।

स्वभाव और औपाधिकता—यद्यपि शुद्धनयसे देखा जाय तो यह जीव विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव वाला है, फिर भी व्यवहारसे अनादि कर्मबंधके वश होनेसे इसमें आत्माको किसी न किसी रूपमें संवेदन करनेरूप अशुद्ध परिणाम होता है। उस परिणामसे कर्मबंध हुआ जो कि आत्माके ज्ञानादिक गुणोंका आवरण करनेमें निमित्त है। फिर उन कर्मोदयसे चारों गतियोंमें गमन हुआ। ये चारों गतियाँ आत्माकी शुद्धस्थितिसे, शुद्धगतिसे, सिद्धगतिसे अथवा आत्माकी उपलब्धिसे अत्यन्त विलक्षण हैं, विभिन्न हैं। ऐसा ४ गतियोंमें गमन हुआ और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

फिर उन गतियोंमें गमन होनेसे इसे देह मिला।

निर्बन्धता व सबन्धता—देखो भैया! कहाँ तो यह जीव शरीररहित स्वरूपवाला था, एक चिदानन्द शुद्ध ज्ञायकस्वभावी था और कहाँ उस स्थितिसे अत्यन्त विपरीत यह देह प्राप्त हुई। इस जड़ पौद्गलिक शरीरके बन्धनमें बंध गया। अब इस देहसे इसे इन्द्रियां उत्पन्न हुईं। आत्माका तो स्वरूप अतीन्द्रिय है, अमूर्त है, परमात्मतत्त्वरूप है और ये ज्ञानके साधन और सुखके साधनभूत ये इन्द्रियाँ जड़ पौद्गलिक हुई हैं। कितना विरुद्ध ये इन्द्रियां हैं। ये इन्द्रियां भी इसमें उत्पन्न हुईं, फिर उन इन्द्रियोंसे इसने पंचेन्द्रियके विषयसुखोंमें परिणमन किया। कहाँ तो आत्माका एक सहज आनन्दस्वभाव है, एक शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानसे जो एक झलक आती है उस परम आनन्दका स्वरूप इस जीवका है और उस स्वरूपसे कितना अत्यन्त विपरीत यह विषयोंका उपभोगरूप इसे सुखपरिणमन मिला है? उस सुखपरिणमनसे इसके रागद्वेष होने लगते हैं। रागद्वेष जीवका स्वभाव नहीं है। रागद्वेषरहित अनन्त ज्ञानादिक गुणोंका धाम यह आत्मतत्त्व है। यह अपने आपमें सहजज्ञान और आनन्दका भोक्ता रहे ऐसा इसका स्वरूप है। लेकिन ये रागद्वेष इस जीवके इस प्रकार चक्रवालमें उत्पन्न हुए हैं। अब रागद्वेष हुए, सो वहीका वही चक्रवाल फिर लगा लीजिए। जैसे रहटकी घड़ियाँ ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर आती रहती हैं, उनका काम चक्कर लगाना है इसी प्रकारसे यह सब चक्र ऐसा विलक्षण चक्र है कि सबके सब एक साथ घूम रहे हैं।

पदार्थोंके अपरिहृतस्वभावतापर दृष्टि—इस अशुद्ध आत्माके अशुद्ध वर्णनको सुनकर, इस अशुद्धप्रक्रियाको जानकर हमें यह साहस बनाना चाहिए कि इतना होने पर भी कोई भी पदार्थ अपने सहजस्वरूपका परित्याग नहीं करता है। यह वस्तुका स्वरूप है। कितना भी संयोग कितनी भी गड़बड़ियाँ हो जाने पर भी प्रत्येक वस्तु अपने रूप ही रहा करती है। तो इतनी विशेष अशुद्धतामें भी हम अपने अंतःविराजमान शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी भावना बनायें और रागादिक विकल्पोंका परिहार करें। सर्वसे भिन्न एक इस शुद्ध चित्स्वभावपर अपनी दृष्टि लायें, यही प्रयत्न मोक्षमार्गका बीजभूत है।

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥१३१॥

पुण्यपापपदार्थका व्याख्यान—नव पदार्थाधिकारमें जीव और अजीवका वर्णन करके ७ पदार्थोंके वर्णन करनेके लिए एक आवश्यक भूमि तैयार करके अब पुण्य पदार्थका व्याख्यान करते हैं। जिसके भावमें मोह और परद्रव्योंसे प्रीति,अप्रीति और चित्तकी प्रसन्नता रहती है, उस जीवके शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं। इस गाथामें पुण्य और पाप, इन दोनों पदार्थोंपर कुछ निर्देश किया जाता है। मोह, राग, द्वेष व चित्तकी प्रसन्नता—इन चार प्रकार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
के परिणामोंको बताकर पुण्य और पाप भाव भी बता दिये गए हैं।

मोहपरिणाम—दर्शन मोहनीयके उदयसे जो कलुषित परिणाम होता है उसे मोह कहते हैं। यह मिथ्यात्वभाव तो सर्वप्रकारसे पापरूप ही है, इसमें पुण्यकी बात रंच भी नहीं आती। जहाँ गहन अज्ञान भरा हुआ है, परपदार्थोंमें यह मैं हूं, यह मेरा है, इस प्रकारकी वृत्ति जगी हुई है वह मोहपरिणाम तो केवल पापरूप है और यह इस आत्मप्रभुपर महान कलंक है। एक मिथ्यात्व भाव न हो फिर काहेका दुःख ? यह जीव जिस-जिस भवमें गया है उस-उस भवमें मिले हुए समागमोंमें मोहपरिणाम ही करता रहा। उस मोहपरिणामसे इसे सिद्धि तो कुछ नहीं मिली, बल्कि यह जन्म जन्मान्तरोंमें दुःख पानेका और अपना भवितव्य निश्चित कर लेता चला आया है। आज जो कुछ पाया होगा यह कितनीसी विभूति है ? राजा सम्राट होकर अथवा इन्द्र होकर कितने प्रकारके ठाठ पाये होंगे, उनके समक्ष आजकी पाई हुई विभूति क्या है ? लेकिन जिसको यह ही सर्वस्व दिख रही है उसके इस मोह और अज्ञान परिणामके लिए क्या कहा जाय ?

सत्संगके दुरुपयोगपर विषाद—इस अज्ञानी जीवकी श्रद्धा सही नहीं है, और जिस जीवकी श्रद्धा सही नहीं है वह कहीं चला जाय, उसका दुःख नहीं मिट सकता। जिस जीव की श्रद्धा सही नहीं है वह कुछ भी पा ले, शान्ति नहीं पा सकता। अब कितना दुर्लभ जीवन पाया है, वीतराग सर्वज्ञकी वाणी सुननेमें आयी, वीतराग सर्वज्ञके स्वरूपका स्मरण करनेका अवसर मिला और वीतरागताके चाहने वाले गुरुवोंका, श्रावकोंका संग मिला, कितना उत्तम संग है हम आप सबका, तिसपर भी विषयवासना और मोहवासनामें ही अपना उपयोग लगाये रहें, तब बतलावो इससे बढ़कर और विषादकी बात क्या होगी ? जब कि यह बात है कि बाहरी चीजोंका समागम आपके विकल्पोंके आधारपर नहीं होता है।

मोहविडम्बना—भैया ! आप कुछ सोचें, जैसा होना है, जैसा उदय है वह होता है। जो बात अपने आधीन नहीं उसकी ओर इतना भाग रहे हैं और जो बात तत्काल आनन्द दे, स्वाधीन है, सारे संकटोंको टाल दे ऐसी आत्मदृष्टिकी बात, प्रभुस्वरूपकी भक्तिकी बात इसे कठिन लग रही है। इन बाह्यपदार्थोंकी मूर्छा, अन्याय ये कोई शरण नहीं हैं। इस जीवको यह जीव ही शरण है जब कि वह शरणके ढंगका अपना ज्ञान बनाये। यह मोहपरिणाम, यह अशुभ परिणाम, राग और द्वेष—ये नाना प्रकारके चारित्र मोहनीयके उदयसे हुआ करते हैं। किसी पदार्थमें प्रीतिका परिणाम होना, किसी पदार्थमें अप्रीतिका परिणाम होना यही है राग और द्वेष।

राग द्वेषकी मत्तता—रागद्वेष परिणमन भी एक पागलपन है। जब यह जीव सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र है, इसका सब कुछ कर्तव्य अपने आपके गुणोंमें है, अपने गुण

Version 1

और प्रदेशके पुञ्जसे बाहर कहीं रहता नहीं है तब ,बाह्यपदार्थोंमें से किसीको इष्ट मान लेना और किसीको अनिष्ट मान लेना, यह भी अज्ञानताकी बात है या नहीं ? इष्ट पदार्थोंमें राग करना और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष करना, यह पुण्य और पापके बंधका कारण होता है। जगत में कुछ भी पदार्थ इष्ट नहीं हैं और न कुछ भी अनिष्ट हैं। जीवमें जिस प्रकारका कषायभाव जगता है उस कषायभावकी पूर्तिमें जो बाह्यपदार्थ निमित्त होने लगते हैं, आश्रय बनते हैं उन्हें तो यह जीव इष्ट मानता है और कषायभावकी पूर्तिमें जो साधक नहीं प्रत्युत बाधक नजर आता है उसे अनिष्ट मान लेता है।

पुण्य और पाप—नाना प्रकारके चारित्र मोहनीयके उदयका निमित्त पाकर जो राग और द्वेषका परिणाम है वह पुण्य और पापका आधार है अथवा वही पुण्य और पाप है। पुण्य दो प्रकारके होते हैं—एक जीवपुण्य और एक अजीवपुण्य। पाप भी दो प्रकारके हैं—एक जीवपाप और एक अजीवपाप। जीवमें जो शुभ और अशुभ परिणाम है वह तो जीव पुण्य और जीवपाप है, इसका निमित्त पाकर जो पुद्गलकर्मका बन्ध हुआ है अथवा जो पुण्य प्रकृति है वह तो है अजीवपुण्य और जो पाप प्रकृति है वह है अजीवपाप। इस गाथा में जीवपुण्य और जीवपापका वर्णन है। राग और द्वेष परिणाम करना यह है पुण्य और पाप। राग और द्वेषमें द्वेष तो नियमसे पाप ही है। द्वेषमें पुण्य नहीं होता। कहीं ऐसा द्वैत नहीं है कि यह द्वेष पुण्य है और यह द्वेष पाप है। कभी यह शंका की जा सकती है कि किसीका हित करनेके लिए जो कुछ गुस्सा की जाती है, कुछ द्वेष किया जाता है वह तो पुण्य हो जायगा। सुनिये—हितका आशय रखने वालेके तो द्वेष परिणाम जगता ही नहीं है और मान लो किसीके हृदयमें कुछ द्वेष परिणाम बन जाय तो जितने अंशमें द्वेष जगा है वह तो पापपरिणाम ही है। हाँ रागपरिणाममें २ भेद हैं। जो शुभ राग है वह तो पुण्य है और जो अशुभ राग है यह पाप है।

चित्तप्रसाद—रागद्वेषका मंद उदय होनेपर अर्थात् चारित्र मोहनीय नामक प्रकृतिका मंद उदय होनेपर जो आत्मामें कुछ विशुद्ध परिणमन होता है और इस ही कारण चित्तमें जो प्रसन्नता रहती है वह है चित्तप्रसाद परिणाम। चित्तप्रसाद परिणाम भी शुभपरिणाम है। कभी कोई दुष्ट किसीका बिगाड़ होनेपर जो खुश रहता है वह चित्तप्रसाद नहीं कहलाता। प्रसादका अर्थ खुश होना नहीं है किन्तु निर्मल होना है। शरदऋतुमें नदी प्रसन्न हो जाती हैं, तालाब प्रसन्न हो जाते हैं अर्थात् निर्मल हो जाते हैं। प्रसादका अर्थ निर्मलता है। चित्तमें विशुद्ध परिणाम होनेका नाम है चित्तप्रसाद। चित्तप्रसादका परिणाम शुभभाव है, पुण्यरूप है। यह भाव जिस जीवके होता है उसका नियमसे शुभ परिणाम होता है। शुभ परिणाम है पुण्यभाव।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मोह पाप—मोह प्रकटरूपसे पाप है, द्वेष प्रकटरूपसे पाप है और अशुभ राग पाप है। शेष सभी राग और चित्प्रसाद ये दो पुण्यभाव हैं। इस प्रकार पुण्य पाप पदार्थोंके वर्णन करते समय कुछ पुण्य पापके स्वरूपकी भूमिकाका दर्शन किया है। जिस कालमें जीवके मोह परिणाम होता है उस समय जीवकी क्या स्थिति होती है और पुद्गलकर्मकी क्या स्थिति होती है? जीव तो निश्चय शुद्ध आत्मतत्त्वकी रुचिसे कोशों दूर रहता है। उसे अपने आत्माके स्वरूपका कुछ भान ही नहीं है, उस दिशाकी ओर गमन भी नहीं। साथ ही व्यवहार रत्नत्रयकी भी रुचिसे वह रहित रहता है। जिसके गहल मोहपरिणाम है उसे व्यवहाररत्नत्रयके पालनकी भी रुचि नहीं रहती है। हां कोई मंद मोह वाले साधुजन व्यवहार रत्नत्रयका कदाचित् पालन करते हैं, फिर भी निश्चयरत्नत्रयकी रुचि उनके अन्दर नहीं है, अथवा यों कहो कि निश्चयरत्नत्रयके लक्ष्यके बिना जो कुछ भी रत्नत्रयके नामपर किया जा रहा है वह व्यवहाररत्नत्रय भी नहीं है, ऐसी जीवकी स्थिति है। यह तो बताया है शून्यताकी बात। विपरीत अभिप्रायका परिणाम मेरा नहीं है। हितको अहित मानना, अहितको हित मानना, अपनेको पराया मानना अथवा सुध भी न होना और परको अपना मानना—ये सारे विपरीत आशय इस मिथ्यात्व अवस्थामें हुआ करते हैं। यह है जीवकी परिस्थिति मोहके प्रसंगमें उस समय पुद्गल कर्मकी स्थिति कैसी रहती है जिसको निमित्तमात्र पाकर जीवका विपरीत आशय बना रहता है? वहाँ है मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय प्रकृतिका उदय।

मोहबल—यह सारी विभावसेना और सारी पौद्गलिक कर्मसेना उस मोह राजाके बूते ही जीवित है। मोहके नष्ट होनेपर धीरे-धीरे समस्त विभावोंकी सेना नष्ट होने लगती है, यह तो है मोहपरिणामकी घटना। अब रागद्वेष कैसे बनते हैं, इसकी बात सुनो। ये नाना प्रकारके चारित्र मोह हैं। इन प्रकृतियोंकी अपेक्षासे कोई चारित्रमोह सम्यक्त्वको प्रकट नहीं होने देते, कोई चारित्रमोह सम्यक्त्वमें तो बाधा नहीं डाल पाते, किन्तु श्रावकका व्रत नहीं होने देते। कोई चारित्रमोह देशव्रत तक तो कुछ बाधा नहीं डालते, किन्तु मुनिव्रत नहीं होने देते और कोई चारित्रमोह इसे अकषाय नहीं बनने देते। इससे यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं हो सकता। ऐसी प्रकृतियोंके भेदसे नाना प्रकारके चारित्रमोह हैं और फिर उनमें नाना प्रकारकी तीव्र मंदकी प्रकृतियां पड़ी हुई हैं। चारित्रमोहोंके उदय होनेपर इस जीवकी क्या स्थिति होती है सो देखिये। निश्चयचारित्रसे वीतरागचारित्रसे यह जीव रहित रहता है और व्यवहार व्रत आदिक परिणाम भी इसके नहीं हो पाते। जिसके जिस प्रकारके चारित्रमोहका उदय है उसके उस प्रकारके अव्रत परिणाम रहा करते हैं। तब इसकी स्थिति क्या रहती है? इष्ट विषयोंमें प्रीति और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष जंचता है, और इस ही मोहके मंद उदय होनेपर चित्तमें जो एक विशुद्धि होती है वह है चित्तप्रसाद।

Version 1

पुण्य पापका विवरण—इस गाथामें ४ बातें कही गई हैं, उन चारकी जगह आप ५ समझ लीजिए—मोह, अशुभराग, शुभराग, द्वेष और चित्तप्रसाद। इनमें से मोह, शुभराग और द्वेष ये तीन प्रकारके भाव तो पापपरिणाम हैं और शुभराग दान, पूजा, व्रत, शील, संयम, तपश्चरण आदिकमें जो अनुराग जंचता है वह है शुभराग। और चित्तमें जो एक विशुद्ध परिणाम जगता है, प्रसाद जगता है वह है चित्तप्रसाद। यों शुभराग और चित्तप्रसाद ये तो हैं पुण्य भाव, शेष विभाव पापभाव हैं।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥१३२॥

पुण्य पापका विभाग—पूर्व गाथामें पुण्यपापस्वरूपकी भूमिकामें कुछ परिणाम बताये गए थे, उन परिणामोंमें तात्पर्यरूपसे विभाग कर रहे हैं। जीवके जो शुभ परिणाम हैं वे तो पुण्यभाव हैं और जो अशुभ परिणाम हैं वे पापभाव हैं। इन दोनों शुभ अशुभ परिणामों का निमित्त पाकर जो द्रव्य पिण्डरूप ज्ञानावरणादिक रूप परिणमन है वह भी शुभ और अशुभ कर्मोंकी अवस्थासे प्राप्त होता है। इस गाथामें चार चीजोंपर प्रकाश डाला है—जीव-पुण्य, जीवपाप, अजीवपुण्य और अजीवपाप। इस जीवके जो शुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं वे द्रव्य पुण्यके निमित्तमात्र हैं अर्थात् नवीन पुण्य कर्मबन्ध जो हो रहा है उसका निमित्त जीवका यह शुभ परिणाम है, यह कारणीभूत है, इसके आस्रवके क्षणसे ऊपर यह भावपुण्य हो जाता है अर्थात् भावपुण्य द्रव्यकर्मोंके आस्रवका कारणभूत है वह शुभ परिणाम भावपुण्य है।

भावपुण्य व द्रव्यपुण्यमें निमित्तनैमित्तिकता—यहाँ भावपुण्य व द्रव्यपुण्यके निमित्त-नैमित्तिक प्रसंगमें समझमें पहिले और पीछेपन समझना। समयकी अपेक्षा नहीं। जीवके शुभ परिणामोंका निमित्त पाकर द्रव्यपुण्य बनता है। तो यह बतलावो कि पहिले जीवका शुभ परिणाम हुआ या पहिले पुण्य कर्मका बन्ध हुआ ? निमित्त तो जीवका शुभ परिणाम है और कार्य है पुण्यकर्मका बन्ध। ये दोनों एक साथ होते हैं, पर जहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव निरखा जाता है, निमित्त पहिले आता है नैमित्तिकका नम्बर बादमें आता है, यह क्रम केवल समझमें है। समयमें यह क्रम नहीं है। जैसे दीपक जलाया, प्रकाश फैल गया, अब बतलावो कि प्रकाशका निमित्त क्या है ? दीपक। यों तो नहीं कोई बोला करता कि दीपकका निमित्त प्रकाश है। प्रकाशसे दीपक पैदा होता है यों कोई नहीं कहता। दीपकसे प्रकाश पैदा होता है। अब यह बतलावो कि पहिले दीपक है या प्रकाश ? दोनों एक साथ हैं, पर समझमें दीपक पहिले है प्रकाश बादमें है, यों समझो कि यह शुभ परिणाम नवीन द्रव्य पुण्यबंधका कारण है। इसी प्रकार जीवमें जो अशुभ परिणाम होता है वह द्रव्य पापका निमित्त है। तो द्रव्य पापका कारण होनेसे द्रव्य पापके आस्रवसे पहिले यह अशुभ परिणाम हो गया, भावपाप हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गया । यह भी समझका पहिलापन है ।

जीवपुण्यका आधार—जिस कालमें जीवके पुण्य अथवा पापभाव होता है उस ही कालमें कर्ममें पुण्य अथवा पापरूप परिणमन हो जाता है । यह जीवपुण्य और जीवपापका लक्षण कहा है । जो जीवके शुभ परिणामोंके निमित्तसे हुआ है अथवा जो जीवके नवीन शुभ परिणामोंका निमित्तभूत है, ऐसा यह जो पुण्य प्रकृतिरूप परिणमन है वह द्रव्य पुण्य है । इसी प्रकार इस पुद्गलमें जो इस ही प्रकारसे ऐसा विशेष प्रकृतिरूप परिणमन है, जो अशुभ परिणामसे उत्पन्न हुआ अथवा जो अशुभ परिणामोंके उत्पन्न होनेका कारणभूत है वह द्रव्य पाप है । यों पुण्य पाप पदार्थके स्वरूप बननेके प्रकरणमें यह बात बता दी गई है कि तुम जीव-पदार्थको जीवमें देखो ।

शुभ अशुभ त्रिविध उपयोगोंका स्थान—जीवमें जो शुभ राग होता है विशुद्ध परिणाम होता है दान आदिका भाव, शीलपालनका भाव, पूजा भक्तिका परिणाम, व्रत तपस्या का परिणाम, परोपकारका भाव—ये सब जीवपुण्य हैं, और जो जीवमें क्रूर परिणाम होता है—पांचों प्रकारके पापोंमें प्रवृत्त होना, व्यसनोंमें फंसे रहना, दगा देना, तृष्णा बढ़ाना, अहंकारमें डूबे रहना, गुस्सासे अपनेको बरबाद किए रहना, ये सारी प्रवृत्तियाँ ये जीवपाप हैं । निश्चय से तो जीवपुण्यभाव और जीव पापभाव ये दोनों संसारमें रोके रखने वाले हैं, फिर भी जो जीव अनादिकालसे विपत्तियोंमें फंसा हुआ है, कर्म और शरीरके बन्धनमें जकड़ा है, इन्द्रियों द्वारा उपभोग कर-करके यह अपनेको कृतकृत्यसा मानता है, ऐसे जीवको पहिली अवस्थामें जीव पुण्य भावका एक सहारा होता है । आखिर शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामकी अपेक्षा से पवित्र भाव ही है । अशुभ परिणामके बाद किसी भी जीवको शुद्धोपयोग नहीं होता, न कभी हो सकता । जिस जीवके शुद्धोपयोग जगा है उससे पहिले उसका शुभ परिणाम हुआ है । तो शुभोपयोग पूर्वक तो शुद्धोपयोग होता है, किन्तु अशुभोपयोगपूर्वक शुद्धोपयोग नहीं होता । इस प्रकारकी दृष्टिसे भी यह शुभ परिणाम उपादेय है ।

शुद्ध उपयोगका स्थान—एक शुद्ध अन्तस्तत्त्वका परिचय अनुभव करने वाले जीवकी दृष्टिमें यह शुभ परिणाम भी हेय है और अशुभ परिणाम भी हेय है । हम आपका कर्तव्य है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपका लक्ष्य रखकर अशुभ परिणामसे तो दूर हों और शुभ परिणाममें रहें और कोशिश यह करें कि हमें शुद्ध दृष्टि स्थिरतासे प्राप्त हो । यों शुद्ध तत्त्वकी ओर अभिमुख होकर शुभ परिणामसे भी निवृत्त हो लें । ऐसी प्रक्रियाकी अन्तः पद्धति हम आप सबकी होनी चाहिए ।

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदि णियदं ।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥१३३॥

Version 1

कर्मकी मूर्तिकता——इस गाथामें कर्मोंको मूर्तिक सिद्ध किया है। जिस कारणसे ज्ञानावरणादिक ८ कर्मोंका सुख दुःखरूप फल सुख दुःखको उत्पन्न करने वाले इष्ट अनिष्ट रूप मूर्तिक स्कंध विषयको मूर्तिक इन्द्रियके द्वारा इस जीवके द्वारा भोगे जानेसे प्राप्त होता है, इस कारण ज्ञानावरणादिक कर्म मूर्तिक हैं, इस बातको अनुमान प्रमाणसे सिद्ध कर रहे हैं। कर्मो के फलभूत सुख दुःखके कारणभूत विषय, वे मूर्तिक पदार्थ मूर्तिक इन्द्रियके द्वारा ही भोगे जाते हैं। इससे यह अनुमान है, अनुमान प्रमाणसे निश्चित है कि कर्म मूर्तिक होते हैं। इसे यों समझिये कि यदि कर्म मूर्तिक न हों तो उनका फलभूत मूर्तिक इन्द्रियविषयका फल भोगने में नहीं आता।

मूर्तकर्मफल—जो कुछ फल भोगनेमें आता है स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पाँचों विषय पौद्गलिक हैं। ये पुद्गलस्कंध भोगनेमें आते हैं, इतना तो सब लोग जानते ही हैं। रसनाके द्वारा रस भोगनेमें आता, स्पर्शनइन्द्रियके द्वारा स्पर्श भोगनेमें आता, घ्राणके द्वारा गंध, चक्षुके द्वारा रूप और कर्णके द्वारा शब्द, ये पाँचों ही विषयभूत पुद्गलके परिणमन हैं। तो पुद्गलके परिणमन अर्थात् मूर्तपरिणमन भोगनेमें आते हैं तो क्यों आ रहे हैं, इसका जो निमित्त कारण है वह भी पौद्गलिक है, मूर्तिक है। अमूर्तसे मूर्त फल नहीं भोगा जा सकता। मूर्तिककर्म मूर्तिकके सम्बन्धसे अनुभूत होते हैं इस कारण ये कर्म मूर्तिक हैं।

कर्मफलकी अहितता—देखिये कर्मोंका फल क्या मिला? इन पुद्गलोंका इष्ट अथवा अनिष्ट भोग करना पड़ा। नरकगतिमें नारकी जीवोंको लोहेकी ताती पुतलियोंसे चिपकाया जाता। वह भी स्पर्शनइन्द्रियका भोग है, वह अनिष्ट है। यहाँ मनुष्य, देव, तिर्यञ्च अपनी स्त्रीमें आसक्त होते हैं यह उनका इष्ट भोग है। नरकोंमें गर्म लोहरस, ताँबारस पिलाया जाता है, यह रसनाइन्द्रियका भोग है और यहाँ नाना व्यञ्जन बनाकर खाया करते हैं तो कोई इष्ट भोग, कोई अनिष्ट भोग हैं, आखिर पुद्गलकर्मके फलमें पुद्गलको ही तो भोगते हैं संसारी जीव पौद्गलिक इन्द्रियों द्वारा।

विषम कार्योंकी परापेक्षता—जितने विषम कार्य होते हैं उनमें कोई दूसरा कारण अवश्य होता है। जो बात घट-बढ़ होती है उसमें कोई दूसरा कारण होता है। स्वरूपदृष्टिसे पदार्थ तो एक रूप ही रहेगा। कोई पदार्थ विभिन्नरूप परिणमता है तो यह निश्चित है कि उसमें दूसरा कोई साथ लगा है। दूसरा पदार्थ साथ न हो तो केवल कोई भी पदार्थ एक रूप स्वभावरूप परिणमेगा। इन्द्रियके द्वारा, इन पौद्गलिक इन्द्रियोंके द्वारा पौद्गलिक विषयोंका सम्बंध और अनुभव होता है। इससे सिद्ध है कि इसका कारणभूत कर्म भी मूर्तिक है। जब उदयमें आने वाला कर्मोंका फल मूर्तिक है और वही भोगा जाता है तो समझिये कि वह कारण भी मूर्तिक है।

http://www.jainkosh.org

बद्ध जीवकी कथंचित् मूर्तता—कर्मफलका भोगने वाला जीव भी तो देखो—व्यवहारदृष्टिसे मूर्तिक बन गया। जीवका स्वभाव तो विषयोंसे अतीत शुद्ध सहज परम आनन्दके भोगनेका है जो कि निर्विषय परमात्मतत्त्वकी भावनासे प्रकट होता है। वहाँ तक तो जीवकी एक शुद्ध अमूर्त सीमाकी बात थी। उस सीमाको छोड़कर जो इन पौद्गलिक विषयोंमें रमने लगा, इन पौद्गलिकको भोगने लगा, ऐसा भोगने वाला जीव भी मूर्त कर्मोंके सम्बंधसे व्यवहारमें मूर्त बन गया। जिन इन्द्रियों द्वारा यह जीव विषयोंको भोगता है वे इन्द्रियां भी पौद्गलिक हैं। जीवका स्वभाव नहीं है कि इसमें इन्द्रियां हों।

परमार्थतः इन्द्रियोंकी ज्ञानानन्दबाधकता—इन्द्रियां तो जीवके ज्ञानमें बाधक हैं और आनन्दमें बाधक हैं, पर अनादिसे बन्धनबद्ध यह जीव जब जब जिन-जिन इन्द्रियोंको पाकर ज्ञान करता है तो इसे वह ज्ञानका साधक मानता है। जैसे किसी एक कमरेमें बैठा हुआ पुरुष कमरेमें खुली हुई ५ खिड़कियोंसे बाहर देख सकता है। कमरेमें ५ खिड़कियाँ हैं तो उनकी जगहसे ही देख सकता है, पर उस पुरुषमें जो देखनेकी ताकत है क्या उस ताकतमें ये खिड़कियाँ कारण हैं? व्यवहारमें लोग कहते हैं कि यह आदमी खिड़कियोंसे देख रहा है, पर खिड़कियाँ तो एक बाह्य आलम्बन हैं और वस्तुतः इस पुरुषके सर्व सामर्थ्यकी बाधक हैं। भींत ही न हो, कुछ भी खिड़कियाँ न हों तब तो यह पुरुष सर्व ओरसे देख लेता है। ऐसे ही जीवमें जाननका सामर्थ्य है, पूर्ण है, सर्व ओरसे है लेकिन जब आवरण पड़ा है ऐसी स्थितिमें क्षयोपशमके अनुसार इन द्रव्येन्द्रिय की खिड़कियोंसे जानता है और देखता है। यह जीव तो इन्द्रियरहित है। इन्द्रियरहित अमूर्त शुद्ध आत्मतत्त्वसे विपरीत ये इन्द्रियाँ हैं जिन इन्द्रियोंके द्वारा यह जीव कर्मफलको भोगता है।

उपाधिकी सिद्धि—कर्मफल भोगनेके विषय पुद्गल हैं। इससे यह सिद्ध है कि कर्म भी पुद्गल हैं। यह जीव केवल जीव ही होता तो यह विडम्बना कहाँ हो सकती थी? यह विडम्बना, यह विभिन्नता, ये विषमतायें यह सिद्ध करती हैं कि जीवके साथ जीवके स्वरूपसे विपरीत कोई अन्य चीज लगी है, इतना तो साधारणतया निश्चित है। जीवके साथ कोई दूसरी चीज लगी है तब जीवकी यह विडम्बना है। वह दूसरी चीज क्या जीवके अनुकूल होगी? यदि जीवके स्वरूपके अनुरूप वह द्वितीय चीज है तो भी विडम्बना नहीं हो सकती। जीवके मुकाबलेमें जीवका प्रतिपक्ष जीवके विपरीत कोई दूसरी वस्तु लगी है जिससे ये विसमताएँ होती हैं।

दृष्टान्तपूर्वक उपाधिकी सिद्धि—जैसे एक जल पड़ा हुआ है। जल गर्म हो गया तो गर्म हो जाना यह साबित करता है कि इस जलके साथ जलके लक्षणसे विपरीत किसी दूसरी चीजका सम्बन्ध होता है तब यह जल गर्म होता है। जलके साथ जल ही जुड़ जाय तब तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/
गर्म नहीं होता। जल जैसी ही चीज जलके साथ जुड़नेसे जलमें विपरीत स्पर्श नहीं होता। कोई विपरीत ही वस्तु साथ है तब जल गर्म हुआ। चाहे सूर्यकी किरण हो, चाहे अग्नि हो चाहे बिजली हो, कुछ भी चीज जलके स्वरूपसे विपरीत स्वरूप वाली जलके संयोगमें हुई तब जल गर्म हुआ। ऐसे ही शुद्ध ज्ञायकस्वभावी इस आत्माकी जो यह विडम्बना होती है—गति, इन्द्रिय, काय आदिक रूपमें इनकी व्यक्ति हुई है तो इस विडम्बनामें कारण कोई दूसरा पदार्थ है और वह दूसरा पदार्थ जीवके स्वरूपसे विपरीत ही होगा। जीव चेतन है तो वह उपाधि अचेतन है, जीव अमूर्त है तो वह उपाधि मूर्त है। यों जीवके साथ लगी हुई उपाधि जिसको कर्म नामसे कहते हैं वह मूर्तिक है और अचेतन है।

कर्मव्यपदेशका कारण—यहाँ एक बात और खास समझनेकी है कि कर्मनाम इन उपाधिभूत पौद्गलिक वर्गणावोंका पड़ गया है। थोप करके नाम हुआ है। वे पौद्गलिक वर्गणायें जो हैं सो ही हैं। कर्म तो उसे कहते हैं जो किया जाय। क्रियते इति कर्मः। जो जीवके द्वारा किया जाता है उसका नाम कर्म है। कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थका करने वाला नहीं होता। जो परिणमता है वह कर्ता है। जो परिणमन होता है वह कर्म है। तो जीवके द्वारा किया गया कुछ अधिकसे अधिक बहुत कुछ भी होगा तो विभाव है, राग द्वेष मोह है। इससे आगे जीवकी कुछ करतूत नहीं है तो जीवके द्वारा किए गए रागादिक भाव हैं और रागादिक भावोंका निमित्त पाकर जिसमें अवस्था कुछ बनी है, अन्तरमें जिन वर्गणावोंमें जो जीवके साथ बंधको प्राप्त हैं उनका नाम अब कर्म पड़ा। तो कर्म वर्गणावोंमें कर्म नाम औपचारिक है। जीवके विभावका कर्म नाम साक्षात् है। कुछ भी तो नाम रखना पड़ता है जो जीवके साथ उपाधिके साथ लगा हुआ है, उनका नाम कोई देव कहे, कोई भाग्य कहे, कोई तकदीर कहे, कोई विधाता कहे उसका नाम अन्वर्थक सम्बधित कर्म है। जिनकी समझमें उस कर्मवर्गणाका स्वरूप यथार्थ नहीं आया वे इस कर्मके बारेमें ईश्वर जैसा रूप, सृष्टा, ब्रह्मा आदिक रूपमें मानते हैं। तो वे कर्म औपाधिक हैं, मूर्त हैं, अचेतन हैं जिस कर्मके फलको यह जीव उन पौद्गलिक इन्द्रियोंके द्वारा पौद्गलिक विषयोंका भोग करता है। यह विषय चल रहा है पुण्य और पापका। पुण्य और पाप पौद्गलिक कर्म हैं। पहिले कथनमें जीवपुण्य और जीवपापका वर्णन था, अब इस गाथामें अजीवपुण्य और अजीवपापका वर्णन चल रहा है। अजीव पुण्य अथवा पापकर्म मूर्तिक हैं, अचेतन हैं, जीवके स्वरूपसे विपरीत हैं।

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि तं तेहिं उग्गहदि ॥१३४॥

बन्धन—यह मूर्त कर्म मूर्तिक कर्मोंसे स्पर्श करता है। मूर्तिक कर्मोंके बन्धनसे बँधा हुआ जीव बन्धनमें होनेपर भी मूर्त नहीं बन गया। कहीं वह स्वयं रूप, रस, गंध, स्पर्शमय
Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं हो गया, किन्तु जब हम इस जीवकी ऐसी पराधीनता देख रहे हैं कि शरीरका बंध है। शरीर चले तो जीव चले, शरीरकी कुछ अवस्था बने तो यह जीव उस अवस्थाका भोगने वाला हो जाता है। ऐसी विकट मिश्रता देख करके इस जीवको भी मूर्त कहा जाता है। तो जब संसारी जीवमें अनादिसंतानसे चला आया उदयागत मूर्तकर्म आगामी कर्मका स्पर्शन करता है तो यह मूर्तकर्म मूर्तसे परस्पर बंध अवस्थाको प्राप्त हो जाता है और यह मूर्तभावोंसे रहित जीव उन कर्मोंका ग्रहण करता है, उनके साथ भी बँध जाता है। इस ही अर्थमें यह भी अर्थ समझो कि यह मूर्तिक कर्म मूर्तिक कर्मसे ही स्पर्श करता है और उन दोनोंके बन्धनमें यह जीव अमूर्त होकर मूर्त जैसा बनकर एक परतंत्र हो जाया करता है।

बन्धनका उदाहरण—बन्धनके मर्मका एक उदाहरण देखिये—जैसे लोग गाय बाँधते हैं गिरमाके द्वारा, रस्सोके द्वारा बाँधते हैं तो क्या रस्सी और गाय ये दोनों मुकाबलेमें आकर परस्परमें बंधते हैं ? नहीं। रस्सीका एक छोर रस्सीके दूसरे छोरके मुकाबलेमें आकर परस्पर में बँधता है, तो बन्धनरूप स्पर्श गाँठ रस्सी रस्सीमें ही लगी, किन्तु इस गाँठके अनुसार यह गाय पराधीन हो गयी, अब बाहर कहाँ जाय ? गायका गला पकड़कर और रस्सीका एक छोर पकड़कर क्या गाय बाँधी जाती है ? तो जैसे रस्सीमें रस्सी ही बँधती है, फिर भी वह प्रसंग ऐसा है कि उस स्थितिमें यह गाय बँधी हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ तक स्पर्शकी बात है कर्मका कर्मके साथ स्पर्श है और उस स्थितिमें जीव जीवका ही वह सब बिगाड़ है, कर्तव्य है। इसने विभाव किया है, अपराध है, इस कारणसे यह जीव बँध जाता है। जैसे थोड़ी देरको समझ लीजिए कोई गाय बहुत सीधी है। उसे एक बार जहाँ खड़ी कर दो वहाँ से हिले नहीं। तो ऐसी गायको कोई बाँधता नहीं है, जहाँ खड़ी है, खड़ी है। यह मोटी बात कह रहे हैं। जो गाय चंचल है, यहाँसे वहाँ भागती है उस गायको लोग बाँधते हैं। तो यद्यपि वह बन्धन रस्सीका रस्सीसे हुआ है, मगर गायकी करतूत गायकी आदतके कारण हो तो वह बन्धन पड़ा हुआ है। ऐसे ही यद्यपि कर्मका कर्ममें बन्धन है, पर उस बन्धनका कारण तो जीवका विकार अपराध है।

कर्मबन्धनोंमें जीवबन्धन—इस संसारी जीवमें अनादि संतानसे ये मूर्तिक कर्म प्रवर्तित चले आ रहे हैं और वे कर्म स्वयं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले हैं, सो वे आगामी कालके मूर्तिक कर्मोंको भी छूते हैं, वे अमूर्तिक कर्म उनके साथ स्नेह गुणके सम्बंधसे बन्धनका अनुभव करते हैं। यह है मूर्तिक कर्मोंका बन्धनका विकार। ये कर्म कर्मसे यों बँध जाते हैं। निश्चयसे यह आत्मा अमूर्त है, फिर भी अनादिकालसे मूर्तिक कर्मोंका निमित्त पाकर इसमें जो रागादिक परिणाम हुए हैं उनसे चिकना बनकर विशेष-निशेष रूपसे मूर्तिक कर्मोंको अवगाहता है अर्थात् अपने प्रदेशोंमें मूर्तिक कर्मोंका बन्धन दे देता है और यों एक क्षेत्रावगाही बनकर यह विकट

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/
बन्धन डाल देता है, फिर उन कर्मोंका जब उदयकाल आता है तो उस कालमें यह जीव फिर रागद्वेष करता है। उस रागद्वेषका निमित्त पाकर उदयमें आये हुए कर्मोंमें नवीन कर्मोंके बँधनेकी फिर प्रकृति हो जाती है और उससे यह लड़ाई, यह भिड़ंत इस जीवके साथ तब तक चलती रहती है जब तक इस भिड़ंतका कारणभूत कषाय शिथिल न हो जाय।

अन्तःक्रिया—देखो भैया! कितनासा तो अपराध है और विडम्बनाएँ इतनी अनेक हैं। अपराध जड़में इतना ही है जीवका कि इस जीवने अपने सहजस्वरूपको आपा न समझकर किसी परभावको 'यह मैं हूं' इतना मान लिया है। देखिये सुननेमें अपराध न कुछ जैसा है, किसीका क्या बिगाड़ा? किसीका न अनर्थ किया, न चोट पहुंचाई, न कोई क्रिया की। इस जीवने अपने आपमें ही आरामसे भीतर ही भीतर बिना कोई अपने स्वरूपसे बाहर उत्पात मचाये सिर्फ परमें यह मैं हूं, इस प्रकारका श्रद्धान बनाता है, इतनीसी अपराधवृत्तिका फल यह जगजाल बन गया है, और जब यह जगजाल मिटेगा भी तो उसके उपायमें इतना ही छोटासा कार्य करना होगा। अपने आपके स्वरूपमें अन्तः ही बना हुआ कुछ बाहरमें क्रिया श्रम न करके अंतः यही एक भाव कर लेना है चित्प्रकाशको दृष्टिमें निरखकर कि यह मैं हूं, ऐसी दृढ़तापूर्वक एक भाव बनाना है, फिर देखो यह सारा जगजाल भी बिखर जायगा और मिट जायगा।

जीवक्षेत्रमें कर्मोंका अवगाह—इस बंधनके प्रसंगमें इस जीवने कर्मोंको अवगाह दिया, और जब जीवने कर्मोंको अवगाह दिया, स्थान दिया तो मानो निःशंक होकर अपनी ही बड़ी मजबूत स्थितिको रखते हुए इन मूर्त कर्मोंने भी वहाँ अपना अवगाह कर लिया। जैसे कोई नया पुरुष आता है आपके पास तो आप उसे अच्छे स्वभावसे बुलाते हैं, आइये साहब! तो आपके इतना कहनेसे आने वाला निःशंक होकर बड़े ढंगसे वहाँ आ जाता है। तो जब इस मूर्त जीवने इस पराधीन जीवने इन कर्मोंको अवगाह दिया कहकर नहीं, किन्तु एक प्रेक्टिकल अपनी वृत्ति बनाकर जब अवगाह दिया तो ये कर्म भी निःशंक होकर बड़ी मजबूत स्थितिके साथ इस जीवमें अवगाहको प्राप्त हो गए। यह है जीव और मूर्त कर्मका परस्परमें अवगाहरूप बंधकी पद्धति।

अमूर्त जीवका मूर्तकर्मसे बन्धनपर प्रकाश—यह प्रकरण इस शंकाका भी समाधान देता है कि जीव तो अमूर्तिक है और कर्म मूर्तिक है तो अमूर्तिक जीवके साथ कर्मका बन्धन कैसे हो जाता है? इस शंकाके समाधानमें भी यहाँ काफी प्रकाश आया हुआ है। यह मूर्तकर्म मूर्तकर्मसे ही बँधता है और उनके इस प्रकारके बन्धनमें कारण है जीवकाअपराध। यह जीवका अपराध उनके बन्धनका निमित्त हुआ। यों यह त्रिगड्ड कर्मबंधका प्रसंग बन गया। आगामी कर्मके बंधनका सीधा कारण है उदयमें आये हुए कर्म और उदयमें आये हुए कर्म इन
Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मूर्त कर्मोंको बाँध ले ऐसा उनमें निमित्तपनेका कारण है जीवका अपराध। यों यह जीव अपराधवश मूर्त कर्मोंसे बँध जाता है।

स्नेहबन्धन—भैया ! एक व्यवहारिक मोटी मिसाल ले लीजिए। यह तो कर्मकी बात कही। कभी आपका किसी मित्रसे तीव्र स्नेह हो जाय तो आप उसके साथ बँधे बँधे फिरते हैं या नहीं ? उस मित्रसे बँध जानेका कारण क्या है ? आपका पुत्रसे स्त्रीसे जो मोह है वहाँ आप उससे बँधे बँधे रहते हैं या नहीं ? इस बन्धनका कारण क्या है ? आपके चित्तमें मोहपरिणाम आया, एक अपराध बना वही अपराध उस बन्धनका कारण है। हालांकि यह एक क्षेत्रावगाह बन्धन नहीं है। यह दृष्टान्त अन्य किस्मका है। वहाँ एक क्षेत्रावगाह बन्धन हो जाता है, पर बन्धनमें कारण यहाँ भी मोह रागद्वेषभाव है और वहाँ भी मोह रागद्वेष भाव है। यों यह जीव अपराधवश इन मूर्त कर्मोंसे बँध जाता है और ये कर्म जीवके अपराधके अनुसार पुण्य अथवा पाप दो रूपमें निश्चित हो जाते हैं। यदि जीवका शुभरागरूप अपराध है तो यह कर्म पुण्यरूप हो जाता है। जीवका अशुभ रागरूप अपराध है तो वह कर्म पापरूप हो जाता है। इस प्रकार जीवके साथ जो पुण्य पाप नामक दो पदार्थ लगे हैं इनका वर्णन इन चार गाथावोंमें किया गया है, और इस वर्णनके साथ पुण्य पाप नामक पदार्थका व्याख्यान समाप्त हो जाता है।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१३५॥

पुण्यास्रवका वर्णन—पुण्य पाप पदार्थका व्याख्यान करके अब आस्रव पदार्थका व्याख्यान किया जा रहा है। जिस जीवके प्रशस्त राग है, अनुकम्पासे सहित परिणाम है, चित्तमें कलुषता नहीं है उस जीवके पुण्य कर्मका आस्रव होता है। आस्रवोंमें यहाँ पुण्यास्रवका वर्णन किया है, पुण्यपाप नामक दो पदार्थ होते हैं। वे दो पदार्थ पुण्यास्रव और पापास्रवके माध्यमसे ही निकले हैं। उनमें से पुण्यपदार्थका आस्रव कैसे होता है ? उसका इसमें वर्णन है।

आस्रव और बन्धका विश्लेषण—आस्रव और बंधमें एक भावका अन्तर है। कार्माणवर्गणामें कर्मत्वपरिणमन आना इसका नाम आस्रव है और वह कर्मत्व परिणमन चिरकाल तक बना रहे इसका नाम है बंध। आस्रव और बंधमें से आस्रव पहिले होता है और बंध पीछे होता है, यह एक समझमें क्रम है तथा दो समयकी स्थिति पाये तो उसका नाम बंध है और एक ही समयका कर्मत्व परिणमन हो तो उसका नाम आस्रव है। ऐसे आस्रव और बंधके स्वरूप होनेसे भी आस्रव पहिले और बंध पीछे होता है। यह भी समझमें रहता है किन्तु यह विभाग नहीं है कि कोई भी कर्मत्व परिणमन पहिले समयमें बंध न रह-

Version 1

लाये और दूसरे समयसे बंध कहलाये। यद्यपि बंधका यह लक्षण है कि एकसे अधिक समय तक स्थिति हो तो उसका नाम बंध है, लेकिन अनेक समयकी स्थिति होने पर भी बंध प्रारम्भसे ही कहलायेगा। यदि दो समयोंकी स्थिति न हो तो वह बंध नहीं है। जब बँध होता है तो वह पहिले समयसे ही बंध कहलाता है। कोई कर्म पहिले समयमें आये और हजारों समय तक रहेगा तो क्या पहिले समयमें जीवके साथ बन्धन नहीं है? जिसका बन्धन है उसका पहिले समयसे ही बन्धन है, और जिसको दूसरे समयकी स्थिति नहीं मिलती। जैसे ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानमें जो सातावेदनीयका आस्रव होता है उसकी २समय स्थिति नहीं होती। उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं, वह बंध नहीं है।

आस्रव और बन्धका सम्बन्ध—कोई मनुष्य किसी रास्तेसे दौड़ता हुआ गेटको पार करके आगे तक चला गया तो वह चला गया, उसका आना ही आना रहा, बंध नहीं रहा, किन्तु वह २ मिनटको भी उस गेटमें खड़ा होता है तो उसका ठहरना कहलाता है। ठहरनेका ही नाम बंध है। तो वह दो मिनट ठहरा तो क्या उसे यह न कहेंगे कि वह पहिले मिनटमें भी ठहरा हुआ था? ठहरता है तो वह प्रारम्भसे ही ठहरा है और नहीं ठहरता है तो ठहरा हुआ ही नहीं। इसी प्रकार आस्रव और बंध दोनोंका प्रारम्भ उस समय, फिर भी कर्मत्व परिणमनका आना और उसका चिरकाल तक रहना—इन दोनोंके स्वरूपपर दृष्टि डालते हैं तो समझमें क्रम हो जाता है कि आस्रव पहिले हुआ और बंध उसके बाद हुआ।

आस्रवका अर्थ—आस्रवका अर्थ है कार्माणवर्गणामें कर्मत्वकी अवस्था आना। कहीं कर्म बाहरसे नहीं आता। जैसे कि लक्षण सुगमतया बोला जाता है, कर्मोंके आनेका नाम आस्रव है। इस जीवमें कर्म आ जायें इसका नाम आस्रव है, तो क्या कर्म बाहरसे जीवमें आते हैं और फिर आकर बँधते हैं? ऐसा नहीं है। इस जीवके प्रदेशोंमें ही एक क्षेत्रावगाह रूपसे विस्रसोपचित अनन्त कार्माणवर्गणायें मौजूद हैं जो कर्मरूप तो नहीं हुईं, किन्तु कर्मरूप जो हुई हैं उनकी भांति ये भी कार्माणवर्गणायें जीवके साथ रहती हैं। भवमरण होनेके बाद भी जीवके साथ जैसे बँधे हुए कर्म जाते हैं तैसे ही न बँधे हुए उम्मीदवार विस्रसोपचय, ये कार्माणवर्गणायें भी साथ जाती हैं। इस जीवमें अनन्त कार्माणवर्गणायें पहिलेसे ही मौजूद हैं। उन वर्गणावोंमें कर्मत्वपरिणमन होना इसका नाम आस्रव है।

प्रशस्त अनुरागका परिणाम—जिस जीवके प्रशस्त राग है वह प्रशस्त राग यद्यपि वीतराग परमात्मतत्त्वसे तो भिन्न चीज है, लेकिन पंचपरमेष्ठियोंमें, उनके अतिशयमें, गुणोंमें अनुराग होना यही है अनुरागकी प्रशस्तता। जिसके यह होता है उसके पुण्यकर्मका आस्रव होता है। प्रभुभक्ति, गुरुसेवा, ज्ञानार्जन, परोपकार आदिक विषयोंके लगावसे रहित जो भाव हुआ करते हैं वे सब प्रशस्त अनुराग हैं। प्रशस्त अनुराग होनेपर जीवके जो कर्म बँधते हैं वे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पुण्य कर्म बँधते हैं। यद्यपि जहाँ तक बन्धन होता है वहाँ तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक ऐसा नहीं है कि किसी जीवके पुण्यकर्म ही बँधता हो और पापकर्म बिल्कुल न बँधता हो और सकषायतात्मक जिसके पुण्यका बन्धन हो रहा है उसके पापका बन्धन भी चलता है। साधुके १०वें गुणस्थान तक भी पापकर्मका बन्ध है, लेकिन जिसके प्रशस्त अनुराग है उसके पुण्यकर्मका अनुभाग विशेष होता है और पुण्यबंधकी वहाँ विशेषता रहती है।

पुण्यास्रवका अघातियाकर्मसे सम्बन्ध—देखिये घातियाकर्म ४७ हैं, वे सभीके सभी पापकर्म कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीवके, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवके ७ पाप प्रकृतियोंका नाश हो गया है—अनन्तानुबंधी ४, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति। इनमें सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति इन दोका बंध नहीं हुआ करता। सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति ये बंधयोग्य नहीं बताये। ५ का बंध होता है। इन दो की सत्ता कब आती है? जब उपशम सम्यक्त्व होता है, तब मिथ्यात्वके ३ खण्ड हो जाते हैं। उनमें २ खण्ड सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति हैं। तो यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्वका घातक पापप्रकृतियोंका आस्रव नहीं होता, किन्तु शेष घातिया कर्मोंका आस्रव चलता रहता है। हाँ, अघातिया कर्मोंमें पुण्यप्रकृतिका बंध होना और पापप्रकृतिका बंध न होना, इस दृष्टिसे पुण्य बंधकी विशेषता आती है और घातिया कर्मोंका भी अति शिथिल बंध चलता है।

अनुकम्पाका परिणाम—जिस जीवके दयासहित परिणाम है, अन्तरंगमें करुणाका भाव है और बाहरमें मन, वचन, कायका दयाके अनुरूप व्यापार है, ऐसा जो दयासहित परिणाम है उससे भी पुण्यकर्मका आस्रव होता है। किसी पुरुषको अपने पुत्र स्त्रीकी तकलीफ में बहुत बड़ी दया आती है। स्त्री पुत्रका दुःख देखा नहीं जाता, रोना आ जाता है और उसके दुःखका यथाशीघ्र दूर करनेका अधिकाधिक यत्न किया जाता है, फिर भी उसे दया सहित परिणाम नहीं कहा है। वे जो कुछ क्रियाएँ हो रही हैं वे मोहकी ठेसके कारण हो रही हैं। उसे मोहपरिणाममें सम्मिलित किया है। जिस जीवसे हम अपनी विषयसाधनाका कुछ ख्याल नहीं रखते ऐसे दुःखी जीवोंको देखकर दयाका परिणाम होना सो वास्तवमें अनुकम्पा है। अनुकम्पा सहित परिणाम पुण्यके आस्रवका हेतुभूत है।

चित्तकी अकलुषताका परिणाम—चित्तमें कलुषता न होना, क्रोध, मान, माया, लोभ ये परिणाम भी न होना, ऐसी अकलुषतासे जीवके पुण्यकर्मका आस्रव होता है। मंदकषाय हो, शान्तिकी ओर झुकाव हो, क्रोधको हटानेका यत्न हो, मान कषायको अहित समझे, नम्रताकी वृत्ति बनाये, छल कपटको एक भयंकर दाह समझकर कौन इनमें उलझे और अपने उपयोगको भूलभुलैयामें डाले, छलसे दूर रहने और सरल वृत्ति रखनेका यत्न करना, तृष्णामें न बढ़ना, पाये हुए समागमको ही आवश्यकतासे अधिक समझकर प्रसन्नतासे

Version 1

गुजारा करना और धर्मपालनके लिए अपना जीवन मानना, इस प्रकारके जो मंद कषायके परिणाम होते हैं उन परिणामोंसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है।

पुण्यास्रवके तीन मूल हेतु—इस गाथामें तीन शुभ भावोंका निर्देश किया है। प्रसस्त राग, अनुकंपा परिणाम और चित्तमें कलुषताका अभाव—इन तीन प्रकारके शुभ परिणामोसे जीवके पुण्यकर्मका आस्रव होता है। ये तीन प्रकारके भाव द्रव्यपुण्यके आस्रवके निमित्तमात्र हैं और उन द्रव्यकर्मोंके आस्रवसे ऊपर भाव पुण्यास्रव होता है। अर्थात् भाव पुण्यका निमित्त पाकर द्रव्यपुण्य प्रकृतियोंका आस्रव हुआ करता है। उन परिणामोंके निमित्तसे और योगके द्वारसे प्रवेश करने वाले पुद्गलके जो शुभकर्मका परिणमन होता है वह द्रव्यपुण्यास्रव कहलाता है। अब इस गाथामें जो तीन भाव कहे गए हैं उनका क्रमसे स्वरूप कहेंगे। प्रथम प्रसस्त रागका स्वरूप बतला रहे हैं।

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणंपि गुरूणं पसत्थ रागोत्ति बुच्चंति ॥१३६॥

प्रशस्त रागमें अर्हद्भक्ति—अरहंत सिद्ध साधुवोंमें भक्ति-परिणामका होना और व्यवहारचारित्रमें धर्ममें, उस धर्मके अनुष्ठानमें वासनाका होना और गुरुवोंके रसिक रूपसे गुरुवोंके भावके अनुरूप अपना प्रवर्तन बनाना यह सब प्रशस्त राग कहलाता है, क्योंकि इस रागका विषय प्रशस्त है, शुभ है। अरहंत भगवानका कैसा शुद्ध विकास है, निर्लेप, निर्दोष, कैसा उनका शुद्धस्वरूप है, परम आनन्दमय सर्वका ज्ञाता, सबमें उत्कृष्ट यह परमात्मतत्त्व है। भव्य जीवोंका एकमात्र आधार यह अरहंतस्वरूप है। उसका स्मरण कर करके अपने चित्तमें प्रासाद होना यही है अर्हद्भक्ति।

प्रशस्तरागमें सिद्धभक्ति—ऐसे ही सिद्धप्रभुका स्वरूप स्मरण करना सिद्धभक्ति है। सिद्धभगवान सर्वथा निर्लेप हैं। किसी भी पदार्थका सम्बन्ध नहीं रहा। जैसे लोकमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य रहते हैं, मगर किसीसे छुवे हुए नहीं हैं। आकाशमें कुछ भी होता रहे, आकाशका क्या बिगाड़ होता है? आग जला दिया तो क्या आकाश जल जायगा? तो जैसे आकाश आकाशमें है और वह सबसे निर्लेप है ऐसे ही सिद्धभगवान अत्यन्त निर्लेप हैं। यद्यपि जहाँ सिद्धप्रभु रहते हैं वहाँ निगोद जीव भी रह रहे हैं, कर्मवर्गणायें भी भरी हैं लेकिन सिद्ध का परिणमन सिद्धमें है, यह सिद्ध अपने एकत्वको लिए हुए हैं, अत्यन्त निर्लेप हैं। अनन्त चतुष्टयसम्पन्न और शरीरादिकके लेपसे अत्यन्त रहित सिद्धप्रभुका स्मरण करके यह ही सर्वोत्कृष्ट सार है ऐसा ध्यान बनाकर जो भक्ति उमड़ती है वह है सिद्धभक्ति।

प्रशस्तरागमें साधुभक्ति—साधु परमेष्ठी ज्ञान वैराग्य व आनन्दकी मूर्ति हैं। इनका परिकरसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहा, वे किसी भी जीवसे अपने किसी इन्द्रियविषयकी साधना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं चाहते, विषयोंसे भी विरक्त हैं। केवल जिनकी यही अभिलाषा है कि मैं अपने आपको शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूपके रूपमें मानता रहूं, इस ही को देखता रहूं, इसही में मग्न होऊं, ऐसी जिसकी भावना रहा करती है और जो कुछ परिणति करते हैं तो अन्य जीवोंके हितके लिए परिणति करते हैं। जिनका नेत्र चाल दूसरे जीवोंके कल्याणका कारण होता है, जिनका गमन स्वपरके कल्याणके हेतु होता है, जिनका आहार तक भी स्वपर जीवोंके कल्याणके लिए होता है ऐसे परोपकारशील स्वहितका निर्भर ध्यान रखने वाले साधु पुरुष कैसे विशुद्ध हैं, कैसी निर्मलता इनमें है, उनके गुणोंका स्मरण कर करके चित्तमें निर्मलता प्रकट करना और ऐसे साधुवोंके चरणोंमें अपने आपका समर्पण करने जैसी वृत्ति जगाना, यह सब साधुभक्ति है। इन परिणामोंसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है। यह सब प्रशस्त राग कहलाता है।

प्रशस्तरागमें भक्तिका प्राधान्य—यह प्रशस्त राग एक स्थूल लक्ष्य होनेसे केवल भक्ति भक्तिकी ही प्रधानता हो, ऐसी स्थितिकी व्यवहारसे कदाचित् अज्ञानी जीनेकी भी हो सकती है अर्थात् मिथ्यात्वकी स्थिति होते हुए भी प्रशस्तराग सम्भव है तो वहाँ भी पुण्यका आस्रव हो जाता है, पर वास्तविक मायनेमें जहाँ लक्ष्यका परिचय हुआ हो फिर अरहंतसिद्ध साधुवोंमें भक्ति जगती है वह अति विशुद्धपरिणाम है और सातिशय पुण्यके आस्रवका कारण है। जब ज्ञानी जीव होता है और वह भी भक्ति प्रधानकी पदवी तक रहता है तो उसका यह मोक्षमार्गविषयक प्रशस्त राग होता है और यह ज्ञानी जब और ऊपर भूमिकामें बढ़ता है और शुद्ध वीतराग दशाको प्राप्त होता है तब इसके यह प्रशस्त राग उस समाधान और समाधिके अभिमुख लगता हुआ होता है।

ज्ञानीके प्रशस्त रागका प्रयोजन—ज्ञानी जीवोंके यह प्रशस्तराग इन इन प्रयोजनोंसे होता है कि मेरा कहीं अनायतनमें राग न पहुंच जाय। जो कुदेव है, कुशास्त्र है, कुगुरु है अथवा विषयोंके साधन हैं, इनके रागका खण्डन करने वाला यह प्रशस्त राग है। यद्यपि प्रभु-भक्तिमें गुरुभक्तिमें भी राग मौजूद है, पर यह राग तीव्र रागके ज्वरका विनाश करने वाला है। इस प्रशस्तरागसे अप्रशस्त रागका खण्डन हो जाता है। ऐसा यह प्रशस्त राग ज्ञानी जीवों के भी हुआ करता है।

अपना लक्ष्य—हम आपको क्या करना है और क्या बनना है? इसका ठीक निर्णय न हो तो हम धर्मपालन क्या करेंगे? और इस निर्णयके लिए इसका कोई आदर्श सामने रहना चाहिए। उन आदर्शोंमें परम आदर्श हैं अरहंत प्रभु। यह केवलज्ञान, केवलदर्शन अनन्त आनन्द और अनन्त शक्तिसे सहित है। क्षुधा, तृषा, जन्म-मरण, शोक चिन्ता आदिक १८ दोष जिनके नहीं पाये जाते हैं, जिन्होंने धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बलसे अर्थात् रागरहित, विकल्परहित विशुद्ध ध्यानके बलसे ज्ञानावरणादिक प्रकृतियोंका विनाश किया है, ऐसे अर-

Version 1

हंतदेवका स्वरूप कितना आदर्श है ? हम ऐसे स्वरूपका स्मरण करके अपना यह भाव बनायें कि मुझे तो यह बनना है, मुझे धनिक नहीं बनना है, इस असार संसारमें यशस्वी नहीं बनना है। लोग भी कुछ समझें कि यह भी कोई है, मुझे इसकी चाह नहीं है। मैं तो यह अर्हत्यस्वरूप चाहता हूं, ऐसा हमारे चित्तमें आदर्श हो और ऐसा ही बननेका हमारा एक लक्ष्य हो।

अपना कर्तव्य—भैया ! निर्दोष परमात्मस्वरूपकी उपासना करके उस निर्दोष परमात्मतत्त्वमें उपयोगको रमाओ। निजमें विराजमान अंतस्तत्त्वका इस जीवने उपयोग नहीं किया और इसी कारण आर्तध्यान और रौद्रध्यानमें ही यह उलझा रहा, इससे नाना कर्मोंका बन्धन हुआ है। यह बन्धन स्वरूपदृष्टिसे समतापरिणामसे टूट जाता है और वहाँ यह परमात्मस्वरूप प्रकट होता है। हमें बनना है ऐसा परमात्मतत्त्व जिसकी अन्तिम परिस्थिति सिद्धत्वकी है, ऐसा अरहंत और सिद्धस्वरूपका आदर्श मानकर उनके बताये हुए मार्गपर चलना यही काम हमारे करनेको पड़ा है। शेष काम यथायोग्य जैसा सहज बने, पर पुरुषार्थ करके, यत्न करके तो हमें आत्माका शुद्ध विकास करना है, इसके सिवाय हमारा कोई दूसरा लक्ष्य नहीं है, यह भावना होनी चाहिए।

साधु आचार—साधु तीन प्रकारके होते हैं—आचार्य, उपाध्याय और मुनि। जो निश्चय पंचाचारका आचरण करते हैं अर्थात् विशुद्ध अपने स्वलक्षण मात्र ज्ञानदर्शनस्वभावी अंतस्तत्त्वके सम्बंधमें निश्चला रुचि रखते हैं, जैसा स्वयं सहज अपने आपके सत्त्वके कारण स्वरूप है, प्रकाश है उस रूप ही जो ज्ञान किया करते हैं और ऐसे ही ज्ञानमें स्थिरतासे जो रहते हैं अर्थात् तद्रूप परिणमन करते हैं ऐसा तो हुआ निश्चयदर्शनाचार, निश्चयज्ञानाचार और निश्चयचारित्राचार—इन तीन प्रकारके निश्चय रत्नत्रयोंके आचरणका वे आचार्य पालन करते हैं।

निश्चय पञ्चाचार—निश्चय रत्नत्रयके आचारके अतिरिक्त निश्चय तपश्चरणका भी वे साधु आचरण करते हैं। निश्चय तपश्चरण नाम है इस प्रकारसे निज आत्मद्रव्यमें प्रतपन करना, जिस प्रकारसे परद्रव्योंकी इच्छाका परिहार हो, निरीहतापूर्वक अपने आपके अंतस्तत्त्व में तपना इसका नाम है निश्चय तपश्चरण। जैसे कोई पुरुष किसी छोटीसी गुफामें जहाँ चारों ओरसे कोई रास्ता न हो बाहर ढूंढ़नेको, ऐसी गुफामें ठहर जाय तो उसका वह एक प्रकारका तपन है। यह तो एक कष्टरूप तपन है, किन्तु यहाँ अंतस्तत्त्वमें जो ठहर जाता है, ऐसा ठहर जाना कि बाहर कहीं ढूके भी नहीं, यह है चैतन्यप्रतपन। जहाँ अपने आपके प्रदेशों में ही इतना संकुचित रूपसे ठहर जाय वहाँ होता है सहज विशुद्ध आनन्द। ऐसे आनन्दको भोगता हुआ अपने चैतन्यस्वरूपमें ठहरना इसे प्रतपन यों कहा है कि व्यवहारदृष्टिसे तो जैसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लोकमें संकुचित जगहमें ठहर जाय, अधिक हिलने-डुलनेको स्थान न मिले तो उसे तपन कहा करते हैं, पर यहाँ तो प्रदेशोंसे बाहर एक अणु मात्र भी यह हिलता नहीं है, अपने आपके प्रदेशोंमें ही चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि रखकर तप करता है, एक तो यों यह तपन कहलाया। दूसरी बात यह है कि जो पुरुष निज चैतन्यस्वरूपमें ही मग्न हुए तो उनमें से प्रताप प्रकट होता है, जिस प्रतापके कारण रागद्वेष बैरी ठहर नहीं सकते। जिस प्रतापके कारण यह प्रकाश लोकालोकमें व्यापक हो जाता है, ऐसा जो चैतन्यका प्रताप फैलता है उसका नाम है निश्चय तपश्चरण। आचार्यदेव इस प्रकार निश्चय तपश्चरणका आचरण करते हैं तथा अपनी शक्तिको न छिपाकर अपनी शक्ति प्रमाण समस्त आचारोंमें सकुशल पूर्णरूपसे अनुष्ठान करना, आत्मकार्योंको सम्पन्न करना, यही है निश्चयवीर्याचार।

निश्चय पञ्चाचारका पालन—इस प्रकार जो निश्चय पंचाचारका आचरण करता है और साथ ही जैसा आचार आदिक सूत्रोंमें कहा गया है उसी प्रकार इस निश्चयके आचारों की साधना वाले व्यवहार पंचाचारका भी आचरण करते हैं तथा दूसरोंको भी उपदेश देते हैं। उनके त्रुटियाँ न रहें, वे निर्बाध इस मोक्षमार्गमें ठहरते रहें, इस प्रकारका मार्ग दिखानेका आदेश करते हैं, प्रायश्चित देते हैं, वे प्रभु आचार्यपरमेष्ठी कहलाते हैं! मुनिजन आचार्योंसे प्रायश्चित्त लेनेके भूखे रहा करते हैं जब कि लोककी यह प्रथा है कि या लोगोंकी यह इच्छा रहती है कि मेरे अपराधका मुझे दंड न मिले और मिले तो थोड़ेमें निपट जाये, किन्तु मुनिराज अपनी प्रसन्नतासे यह चाहते हैं कि मेरे दोषोंका मुझे पूरा प्रायश्चित्त मिले। ऐसी इच्छा होनेका कारण क्या है? मुक्तिकी लगन। वे इस बातमें अपना अकल्याण समझते कि मैं अपराध करूँ और थोड़ेसे प्रायश्चित्तमें निपट लूँ। अरे घर द्वार किसलिए छोड़ा था? एक निर्दोष मोक्षमार्गमें चलनेके लिए। अपराधके शेष रहनेसे तो मोक्षमार्ग सारा ही रुक गया। मैं तो बड़े टोटेमें रहूंगा, ऐसी उत्कृष्ट लाभकी वाञ्छा होनेके कारण वे प्रायश्चित्तको पूर्णरूपसे ग्रहण करना चाहते हैं। जब कोई एक विशुद्ध संकल्प होता है और सब समूहका भी वही विशुद्ध संकल्प होता है तब वहाँ न तो आचार्यदेवको व्यग्रता होती है और न मुनिजनोंको व्यग्रता होती है। जैसे भी मोक्षमार्गका काम बने उस प्रकार ही सबका व्यवहार होता है।

उपाध्यायपरमेष्ठीका प्रकाश—उपाध्याय परमेष्ठी वे कहलाते हैं जो मोक्षमार्गका दूसरोंको प्रतिपादन करते हैं और उस मोक्षमार्गकी स्वयं भी भावना करते हैं, उस मोक्षमार्ग का परिणमन करते हैं ऐसे साधुवोंको उपाध्याय कहा गया है। ये उपाध्याय परमेष्ठी ज्ञानके पुञ्ज हैं, इन्हें अंगोंका पूर्वोंका भी विशद बोध रहता है, समस्त शास्त्रोंका स्पष्ट अवगम रहता है और यह भी निर्णय है कि सर्व उपदेशोंमें सारभूत यह शुद्ध जीवास्तिकाय है। ५ अस्तिकाय और ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ९ पदार्थोंके बीचमें यह जीवास्तिकाय, यह जीवद्रव्य जीवतत्त्व जीव-

Version 1

पदार्थ निश्चयसे उपादेय है।

जीवास्तिकाय और जीवद्रव्य—जब हम वस्तुको फैलावके रूपमें देखते हैं तो फैलाव केवल ५ वस्तुओंमें पाया जाता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। इन पाँचोंका नाम पंचास्तिकाय है। क्षेत्रकी दृष्टिसे इन सबका नाम पंचअस्तिकाय है और इन ५ अस्तिकायोंमें उपादेयभूत है जीवास्तिकाय। यहाँ भी क्षेत्रकी प्रधानतासे अपने जीवको देखा गया है। जब हम वस्तुओंको परिणमनोंकी दृष्टिसे निरखते हैं तो परिणमन करने वालेका नाम पड़ता है द्रव्य। द्रव्य ६ होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। ये सभी अनादिसे परिणमते चले आ रहे हैं, वर्तमानमें परिणम रहे हैं और सदैव परिणमते रहेंगे। इन ६ द्रव्यों में उपादेयभूत है यह शुद्ध जीवद्रव्य। जैसे धर्मद्रव्यको, अधर्म, आकाशद्रव्यको जब हम इनके परिणमनको देखते हैं तो वहाँ परिणमन और मूलभूत द्रव्य ये दोनों एक रूपसे ही जंचते हैं, वहाँ विषमता नहीं प्रकट होती है। अगुरुलघुत्व गुणके कारण जो वृद्धि हानियां होती हैं वे स्वरूपकी सत्ता बनानेके लिए हैं। यों ही हम बहुत अन्तरमें चलकर इस शुद्ध जीवद्रव्यको देखें तो अगुरुलघुत्व गुणके द्वारा जो हानि वृद्धि होती है उससे यह जीवविस्तार और यह परिणमन वे सब एकमेक रहते हैं। इस प्रकारके शुद्ध परिणमनकी दृष्टिसे निरखनेमें आया हुआ जो जीवद्रव्य है वह शुद्ध जीवद्रव्य उपादेयभूत है।

जीव तत्त्व और जीव पदार्थ—जब हम भावदृष्टिसे वस्तुको देखते हैं तो इसका नाम तत्त्व पड़ता है। तस्य भावः तत्वं। भावदृष्टिसे ये ६ तत्त्व हैं। उन्हीं छहों तत्त्वोंको भावदृष्टिसे देखो तो उन ६ तत्त्वोंमें से उपादेयभूत यह शुद्ध जीवतत्त्व है। और जब हम एक पिण्डरूपसे निहारते हैं तो ये सब ६ पदार्थ होते हैं अथवा छहोंके छहों पदार्थ पिण्डरूप निरखे जायें तो उन सबमें विषयभूत सार जीवपदार्थ मिलता है। इस प्रकार उपादेयका जो कथन किया करते हैं और भेदरूप रत्नत्रय, अभेदरूप रत्नत्रय मोक्षमार्गका प्रतिपादन करते हैं और स्वयं भी उस रूप अपनेको भाते रहते हैं ऐसे साधुवोंको उपाध्याय कहा है।

साधुभक्ति—आचार्य और उपाध्यायके अतिरिक्त शेष जितने भी साधु हैं उनको मुनि कहते हैं। निश्चय आराधनाके द्वारा जो शुद्ध आत्मस्वरूपका साधन करें उनका नाम साधु है। साधुत्वका लक्षण, मुनिपनेका लक्षण आचार्य और उपाध्यायमें भी है, किन्तु उपाध्याय और आचार्यमें मोक्षमार्गकी विशिष्ट व्यवस्थाके निर्देशनके कारण उपाध्याय परमेष्ठी विशेष रूप से और आचार्य परमेष्ठी विशेष रूपसे कहे गए हैं। यों जो पुरुष अरहंत भगवानमें और सिद्ध भगवानमें बाह्य और आभ्यंतर भक्ति करते हैं और आचार्य उपाध्याय साधु जनोंमें भक्ति और उनकी सेवा करते हैं वे प्रशस्त रागी हैं। जिस प्रकार ये गुरुराज हमपर करुणा करें, इनका चित्त कैसे प्रसन्न हो उस प्रकारसे उनका अनुगमन करें, उनके अभिप्रायके अनुकूल अपनी

प्रवृत्ति बनायें, यही है वास्तविक साधुजनोंकी सेवा। साधुजन किस बातसे प्रसन्न रहा करते हैं? धर्मप्रभावनामें। अपने आपके आत्मामें जो धर्म अवस्थित है उस धर्मकी प्रभावना खुद करें, और दूसरे जीवोंमें भी उनके धर्मकी प्रभावना निरखें तो इसमें साधुजन प्रसन्न रहा करते हैं अर्थात् ज्ञानी बनें, श्रद्धानी बनें और उस श्रद्धानके अनुसार अपने आपको अंतः प्रसन्न बनायें, ऐसी धर्मप्रभावना जब यह गुरुराज निरखते हैं तो इनका चित्त प्रसन्न रहता है। तो जिस प्रकार उनकी कृपा बने उस प्रकार अनुगमन करना सो साधुधर्मभक्ति है।

ज्ञानीका प्रशस्त राग—मोक्षमार्गकी पद्धतिसे जो पंचपरमेष्ठियोंकी भक्तिमें रहता है उसका नाम प्रशस्त राग है। ज्ञानी जन जितना भी कर सकते हैं पंचपरमेष्ठीमें राग उनका यह शुभ राग है। शुभ राग यों कहलाता कि इस रागका विषय शुभ है। लोग भोगोंकी आकांक्षासे सेवा किया करते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष इन विषयकषायके आयतनोंमें राग न पहुंचे अथवा तीव्र रागज्वर न रहे, अशुभ रागका निषेध करनेके लिए वे प्रशस्त राग किया करते हैं। इस प्रशस्त रागसे पुण्यका आस्रव होता है। इस प्रकार आस्रव तत्त्वके प्रकरणमें पुण्यास्रव की व्याख्या करते हुए प्रशस्त रागका स्वरूप बताया है। अब अनुकम्पाका स्वरूप बतलाते हैं।

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥१३७॥

अनुकम्पाका स्वरूप—प्यासे, भूखे दुःखी प्राणीको देखकर स्वयं दुःखित मन होता हुआ जो कृपासे उनका दुःख दूर करनेकी क्रियाको करता है उस पुरुषके यह अनुकम्पा कहलाती है। किसी जीवको निरखा कि यह तीव्र तृषासे व्याकुल है अथवा तीव्र रोगसे पीड़ित है उसको देखकर अज्ञानी जीव तो किसी भी उपायसे उसकी इस वर्तमान पीड़ाको दूर करनेका प्रतिकार करते हैं और यह अज्ञानी जीव स्वयं व्याकुल होकर अनुकम्पा किया करता है। यह तो अज्ञानी जीवोंकी दया करनेकी पद्धति है। किन्तु ज्ञानी जीव जब निज तत्त्वकी भावनामें नहीं बैठे हुए हैं उस समय दूसरे जीवोंको देखकर दया तो करते हैं, पर उस दयाकी पद्धतिमें एक विशेषता है। स्वयं दुःखी होकर दया नहीं करते, संक्लेश करके दया नहीं करते, किन्तु संक्लेशका परित्याग करते हुए यथासम्भव प्रतिकार करते हैं और उस प्रतिकारमें मूलमें यह भावना रहती है कि यह जीव क्षुधा, तृषा, रोग आदि दोषोंसे रहित अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र निज स्वरूप तक दृष्टि पहुंचा ले तो इस औषधिके प्रतापसे इसके ये सारे संकट सदाके लिए समाप्त हो जायें। इस प्रकार ज्ञानी जीव मूलसे दया करता है।

ज्ञानी जीवके अनुकम्पापरिणाम—ज्ञानी जीव उन दुःखी जीवोंको देखकर विशेष रूपसे सम्वेग और वैराग्यकी भावनाको करता है। देखिये जिसके पास परिग्रह है, घर द्वार है, ऐसा ज्ञानी जीव भी मूलमें उस प्रकारकी भावना करता है और उसकी वर्तमान वेदना

Version 1

मिटानेके लिए जलपान कराना, भोजन वस्त्र आदिक देना इन उपायोंको भी करता है और जिसके परिग्रह नहीं है, गात्र मात्र ही जिसका परिग्रह रह गया है, ऐसा साधु क्या रोटी बनाकर उसे खिलाने लगेगा ? किस प्रकारसे उसका दुःख मेटेगा ? शारीरिक सेवा कुछ कर सकता है। ज्ञानी संत पुरुषोंकी दयामें मोक्षमार्गकी भावनाकी प्रधानता रहा करती है और वे ज्ञान-औषधिसे दूसरोंके दुःखको दूर करनेका यत्न करते हैं।

वेदना और चिकित्सा—इस जीवमें वेदना दो पद्धतियोंसे आया करती है। एक तो शारीरिक वेदनाकी पद्धतिसे और एक मानसिक चिन्ताकी पद्धतिसे। जब शारीरिक रोगकी पद्धतिसे भी इस जीवके वेदना आती है तो उसमें भी मानसिक चिंताकी वृत्ति बनी रहा करती है। केवल शरीरकी ही वेदना हो, मनका उसमें कुछ सहयोग न हो, ऐसा हम आप संज्ञी जीवोंके नहीं होता, असंज्ञी जीवोंके संज्ञावोंके कारण होता है तो वे उपदेशके पात्र भी नहीं हैं। मन ही नहीं है तो उन्हें कौन उपदेश देने लगेगा ? क्या किसीको यों देखा कि भाई इस सभा में थोड़े आदमी आते हैं इनको क्या उपदेश दें ? जहाँ बहुतसे जीव हों वहाँ चलें तो जंगलमें किसी जगह लाखों और करोड़ों चींटी फैल रही हों एक जगह, वहाँ बैठ जाय और उन्हें उपदेश देने लगे, सभामें तो १००-५० ही आदमी आते हैं, यहाँ लाखों जीव हैं, इन्हें उपदेश दें, ऐसा तो कोई नहीं करता। तो ये संज्ञी जीव जो शारीरिक वेदनासे त्रस्त हैं उनके भी मानसिक चिन्ताका सहयोग है, और उससे वह वेदना कई गुनी हो गई है उस समय दोनों प्रकार की औषधियोंकी जरूरत है। शारीरिक रोगको मिटानेकी आयुर्वेदिक औषधि और सम्वेग वैराग्य ज्ञानप्रकाश जैसे जगे उस प्रकारसे वचन कहनेकी भी जरूरत है। तो साधु जन उस औषधिको किया करते हैं जो औषधि गृहस्थोंके वशकी नहीं है, ऐसी औषधिसे दुःखी जीवोंका दुःख दूर करते हैं। भूख, प्यास, रोगकी वेदनाको थोड़ी देरको कोई आयुर्वेदिक उपचारसे शमन कर ले तो वह कुछ देर बाद फिर वेदना खड़ी हो जाती है, किन्तु यह अध्यात्मचिकित्सा एक ऐसी मौलिक चिकित्सा है कि जिसके प्रसादसे अनन्तकालके लिए भी कभी यह रोग आ ही नहीं सकता, क्योंकि उस चिकित्सासे रोगका आधार उपाधिका संग ही नहीं रहा, ऐसी परिस्थिति हो जाती है।

अनुकम्पाके उद्भवमें स्थिति—भैया ! दयाका भाव जब भी किसीके प्रकट होता है तो उसमें कुछ खेद आये बिना होता ही नहीं। अज्ञानी जीव अतिव्याकुल होकर, खेदखिन्न होकर दयाका परिणाम करते हैं तो ज्ञानी जीवके कभी कुछ थोड़ा खेद होता है और वह भी एक अध्यात्मपद्धतिके अवरोधके चिन्तनपूर्वक होता है, पर दया खेद बिना नहीं हुआ करती। जब तक दया करने वालेके चित्तमें स्वयं दूसरे दुःखीके दुःखके अनुरूप किसी अंशमें दुःख न जगे तब तक यह कैसे प्रतिकार करेगा ? ठंडके दिनोंमें भिखारी लोप रात्रिके ४-५ बजे जब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
विकट तेज ठंड होती है तब बिना कपड़ोंके खुले तनसे बड़े कातरस्वरसे चिल्लाकर ५निकोंसे प्रार्थना करते हैं और उस समय ठंडसे घबराये हुए रजाईके बीच पड़े हुए इस गृहस्थको उनके दु:खका जब स्मरण होता है तो चित्त व्यग्र हो जाता है। हाय ! ऐसी ठंडमें ये इस तरहसे दु:खी होकर चिल्ला रहे हैं। जब इसके चित्तमें वेदना जगी तब रजाई आदिक देकर उनका दु:ख दूर करनेका यत्न करते हैं।

साधु जनोंका अनुकम्पापरिणाम––संसारी जीवोंके इन रोगादिककी वेदनावोंमें उनकी व्यग्रता निरखकर साधु जनोंके चित्तमें यह बात समा जाती है कि अहो ! देखो तो कैसा तो इनका सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है और उस स्वरूपका उपयोग न करके एक बाह्य उपयोग बना-कर कितने तीव्र व्यग्र हो रहे हैं ये प्राणी। इस तरह निहारकर चूंकि ये साधु भी उस समय अपने स्वरूपमें मग्न नहीं हैं तो अपने स्वरूपकी अमग्नताके कारण और उसके स्वरूपकी बेहोशीका ध्यान करनेके कारण थोड़ा इन साधुवोंके चित्तमें भी खेद उत्पन्न होता है, जिस खेद से पीड़ित होकर दु:खी जीवोंको सम्वेग और वैराग्य ज्ञानप्रकाश जैसे उत्पन्न हो उस प्रकारका उपदेश देनेका यत्न करते हैं। इस प्रकार होती है ज्ञानियोंके द्वारा की हुई अनुकम्पा। यह सब अनुकम्पाका भाव पुण्यकर्मके आस्रवका कारण है। इस प्रकार पुण्यास्रवके प्रकरणमें अनु-कम्पा भावका स्वरूप कहा गया है।

कोधो व जदा माणो माया लोभो य चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसोत्ति य तं बुधा वेंति ॥१३८॥

कालुष्यका स्वरूप––जिस समय क्रोध, मान, माया, लोभ, मनको प्राप्त होकर आत्म में आकुलताको उत्पन्न करते हैं उस समय उसके परिणामोंमें कालुष्य परिणाम कहा गया है चित्तमें क्षोभ होना, चित्तका ठिकाने न रहना, यह कषायोंके तीव्र उदयमें संभव है। जो पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि मेरा चित्त ठिकाने नहीं है तो उसका कारण यह लगा लेना चाहिए कि इस जीवको या तो क्रोध कषाय तीव्र जगी, जिस कषायके कारण विवेक गुण जल गये हैं, अब विवेक मार्गपर नहीं ठहर सका है, इस कारण उसका चित्त ठिकाने नहीं है, अथवा यों समझिये कि इतना तीव्र मानका उदय हुआ है। दूसरोंको अपनेसे नीचा समझना और अपनेको उत्कृष्ट समझना और इस ही समझके अनुरूप अपनी मान्यता विशेष चाहे, यह बात जब नहीं बनती है तो ऐसी परिस्थितिमें चित्त ठिकाने नहीं रहता। अटपट मनचाहे विकल्पोंकी दाहमें जलते रहना पड़ता है। अथवा माया कषायका तीव्र उदय हुआ है, छल कपटका परिणाम जगा है। किसीको कुछ बताना और कुछ मनमें चाहना और कुछ काम करना, जहाँ मन वचन, काय तीनोंमें विषमता हो जाती है। मन चाहता है यह और, वचन बोलना पड़ता है और तरहका, और शरीरसे चेष्टा की जा रही है और प्रकारसे। ऐसी विषमतामें चित्तको बड़ी

Version 1

व्यग्रता हुआ करती है। अथवा यों समझिये कि लोभ कषायकी तीव्रता हुई है जिस तृष्णाके वश होकर इसका चित्त ठिकाने नहीं है। चित्तमें जब भी व्यग्रता होती है तो कषायोंके तीव्र उदय होनेपर हुआ करती है। यह चित्त कलुषताका परिणाम पापास्रवका कारण है। खोटा परिणाम तत्काल भी खेद पहुंचाता है और भविष्यमें भी बहुत काल तक खेद मानता रहेगा ऐसा देखा जाता है।

कषायोंके अभावमें आत्माका लाभ—जब इस क्रोध, मान, माया, लोभका मंद उदय होता है तो चित्तमें प्रसाद उत्पन्न होता है; प्रसन्नता, निर्मलता, बोझरहित, हर्षायमान चित्त रहता है। ये कषाय ही जीवको दुःखके कारण हैं, कषायें हटें तो जीवको सुख आनंद स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। जिसे आनन्द चाहिए उसका कर्तव्य कषायोंके हटानेका होना चाहिए। पर मोहके उदयमें जिस ही प्रवृत्तिसे क्लेश होता है उस ही प्रवृत्तिमें इसे आनन्द सूझता है। विषयोंकी प्रवृत्ति खेदका ही कारण है। पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें से कौनसा विषय ऐसा है जो इस जीवको शान्तिका कारण बनता हो? शान्तिका कारण बनना तो दूर रहो, इन विषयोंके संकल्पमात्रसे ही चित्तमें व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है। जैसे कामविकार सम्बन्धी विकल्प जगा तो चाहे उस कामवासनाके अनुरूप आगे कभी बात बने या न बने, पर जिस कालमें वासना उत्पन्न हुई है उस ही कालमें इसे तीव्र व्यग्रता हुई है, फिर भोगके कालमें भी व्यग्रता और भोगनेके बादमें भी व्यग्रता।

विषयोंमें व्यग्रता—खूब खोज कर लीजिये—कौनसा विषय ऐसा है जिसका उपभोग शान्तिपूर्वक होता हो? खानेकी आसक्ति जिस पुरुषके रहती है उसके खानेमें प्रवृत्ति रसास्वादनमें प्रवृत्ति क्षोभपूर्वक होती है। चित्तमें उलझन, व्यग्रता, बाह्यदृष्टि जब तक रहती है तब तक क्षोभ उत्पन्न होता है, और मनमाना आसक्ति सहित खानेके बाद भी क्लेश होता है और कमसे कम इतना तो हो ही जाता है तुरन्त कि खाकर इसे चित्त लेटना पड़ता है, बेचैन होकर यह पेटपर हाथ फेरता है, व्यग्र होता है। शरीर उस समय वशमें नहीं रहता और उसका परिणाम भी बुरा निकलता है। इसके लिए साधन भी जुटाने होते हैं। सैंकड़ों आपत्तियाँ हैं। गंधमें, रूपके अवलोकनमें, शब्दोंके श्रवणमें सबमें चित्तकी व्यग्रता है। यह तो लोभ कषायकी बात कही है। इन्द्रियके विषयोंका उपभोग करना लोभ कषायमें सम्मिलित है। अब इस ही बुनियादपर पद-पदपर इसके क्रोध, मान, माया और लोभ जगते हैं। उनका भी इसे बड़ा क्लेश भोगना होता है।

अकालुष्यकी परिस्थिति—जब इनका मंद उदय हो तब चित्तमें एक प्रसाद उत्पन्न होता है। कुछ-कुछ इसे अब दुनियाके जीव समान दिखने लगते हैं। तीव्र कषायमें तो यह ही नजर आता था कि यह मेरा है, बाकी सब गैर हैं। अब इस हठमें भी कमी होने लगती

http://www.jainkosh.org

है। इसे कहते हैं अकालुष्य परिणाम। कलुषता न रही, कालिमा न रही। तो जहाँ चित्तकी कलुषता नहीं रहती है वहाँ पुण्यका आस्रव होता है। देखिये कभी-कभी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष के भी कर्मोदयवश कलुषता उत्पन्न हो जाती है, लेकिन अन्तरङ्गमें श्रद्धान उसका निर्मल है अतएव झुकाव परकी ओर, कलुषताकी ओर नहीं रहता है। यद्यपि परका उपयोग करके और उस कलुषतामें थोड़ा चलकर वह व्यग्रता कर रहा है ज्ञानी पुरुष, किन्तु वहाँ कैसा दो धारावोंका संगम है कि व्यग्रता होते हुए भी भीतरमें व्यग्रता नहीं है, ऐसा होना एक कितनी आश्चर्यकी और कठिन बात है ? एक ही जीवमें व्यग्रता भी लोट रही है और भीतर इसमें अव्यग्रताका भी साधन बना हुआ है।

अज्ञानीका कादाचित्क अकालुष्य—कभी अज्ञानी जीवके भी अकलुषताका परिणाम हो जाता है। जब कषाय मंद हों उस समयमें अज्ञानी पुरुषके भी उस चित्तमें प्रसाद जगता है, लेकिन उसके अन्तर भीतरमें व्यग्रताका सारा साधन पड़ा हुआ है और उसकी अव्यग्रता उसका चित्तप्रसाद यों समझिये, जैसे कोई पुरुष मांगे तो छांछ और दूध उसके समक्ष हाजिर कर दे तो जैसे वह पुरुष बड़ा प्रसन्न होता है, नम्रता दिखाता है और अपने मंद कषायकी मुद्रा बनाता है। ठीक है, लेकिन उस पुरुषमें अन्तरमें व्यग्रतीकी योग्यता पड़ी है और उस ही पुरुषको वह कभी मांगे दूध और दे दे छांछ तब उस समय निरख लो। जो पुरुष प्रशंसाकी बातें सुनकर बड़ी नम्र और बड़ी निष्कषाय जैसी बातें बनाया करता है क्या ऐसी बात उसमें वास्तवमें है ? इसका निर्णय करना हो तो जब कभी निन्दा अथवा गाली-गलौचकी बात कही जाय तो उस घटनामें परीक्षा हो सकती है। अज्ञानी मोही जीवके कभी इन कषायोंका मंद उदय आनेपर चित्तकी अकलुषता रहती है, लेकिन अंतरमें उसके मोहजन्य व्यग्रता पड़ी ही है।

आत्माकी सात्त्विकी वृत्ति—आत्माका स्वभाव क्रोध नहीं है। इसका तो सात्त्विक काम उत्तम क्षमा परिणतिरूप शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्वेदन है। यह विषयरहित क्षमाशील शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका सम्वेदन करे, अनुभव करे कि मैं तो यह ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, यह है इस जीवकी सात्त्विक वृत्ति। सात्त्विक शब्दका क्या अर्थ है ? अपने ही सत्त्वमें, अपने ही सत्त्व के कारण निरपेक्ष होकर जो बात जगे उसका नाम है सात्त्विक वृत्ति। व्यवहारमें सात्त्विक रहन-सहनका अर्थ किया जाता है—कोई आडम्बर न होना, कोई विशेष पराधीनताकी बात न लगाना उसे कहते हैं सात्त्विक रहन-सहन। यह अर्थ कहाँसे निकला ? इसमें भी मर्म यह पड़ा है कि केवल तुम्हारे ही द्वारा तुम्हारी ही आधीनतासे स्वतंत्र होकर तुम अकेले अपने आप जिस प्रकार रह सकते हो उस प्रकार रहना उसको कहते हैं सात्त्विक रहन-सहन। फिर व्यवहारमें अर्थ उसका यह निकला कि परद्रव्योंका जितना आडम्बर हटे उसे कहते हैं सात्त्विक वृत्ति।

Version 1

सात्त्विकी वृत्तिमें क्रोध मानका अभाव—इस जीवकी सात्त्विक वृत्ति है क्षमारूप बने रहना। उस सात्त्विकतासे अत्यन्त विरुद्ध बात है क्रोध करना। क्रोध जीवका भूषण नही है, कलंक है। मान कषाय भी जीवका कलंक है। मान कषायमें यह जीव अपना बड़प्पन चाहता है। किन्तु हे बड़प्पन चाहने वाले पुरुष! जरा अपने आपके स्वरूपपर निगाह तो दे। तेरा यह शुद्ध आत्मतत्त्व निरहंकार है। केवल एक ज्ञानानन्द प्रकाशका ही अनुभवन करते रहने की तेरी प्रकृति है। निरहंकार शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे अत्यन्त प्रतिकूल भाव है, यह मानकषाय। मानमें आकर किसने शान्ति पाई? घमंडमें आनेपर जीवकी बरबादी ही हुई।

मानका कुफल—रावणका मानकषायके कारण वध हुआ, ऐसी दुर्गति हुई और आज तक भी लोग उसको अपमान भरी दृष्टिसे देखते हैं। हालांकि वह पंडित था, विवेकी था, बलवान था, धर्मको प्रभावना करने वाला भी था, पर सारे गुणोंपर पानी फिर गया एक अभिमानमें आकर। एक गल्ती हो गई थी, सीताको हर लिया था, पर उस गल्ती होनेपर भी उसने गल्ती नहीं की। अपनी उस प्रतिज्ञापर अडिग रहा कि जो परनारी मुझे न चाहेगी उसको मैं कुछ न कहूंगा, और सीताको लौटा देनेका मनमें निर्णय था। क्योंकि वह करे क्या? जब अपनी प्रतिज्ञा निभा रहा था तो सीताका क्या करना? लेकिन इसे इस तरह कैसे दे दिया जाय, मैं लड़ूं और रामपर विजय पा लूँ, फिर सौंप दूं। इस मानकषायके वश होकर उसपर क्या बीती? अपने भी जीवनमें व्यवहारमें दिन भरमें जो कष्ट होते हैं उन कष्टोंका प्रायः करके यह मानकषाय बहुत-बहुत कारण पड़ता है। चलना, बैठना, गोष्ठीमें, इस जगहोंमें जरा-जरासी बातमें मानकषाय जगती है, और अन्तर जल भुन जाता है। और ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसे फिर वचन निकलते हैं कि जिससे आपदायें ही बढ़ती हैं।

सात्त्विकी वृत्तिमें मायाका अभाव—माया कषाय छल कपटके जालमें अपने आपको उलझा लेना, जैसे कहते हैं कि मकड़ी अपना जाल खुद पूरती है और उस जालमें फंसी रहती है। शायद वह अपनी रक्षाके लिए जाल पूरती हो और फंसी भी न रहती हो, जिस चाहे गलीसे चलकर निकल जाती हो, लेकिन उदाहरण यह है कि जाल पूरकर जालमें मकड़ी फंसी रहती है। उससे भी विकट परिस्थिति इस मायावी जीवकी है। यह अपने आपकी कल्पनाओं में कितने ही जाल पूरता रहता है। यों कहना, यों करना, विरुद्ध-विरुद्ध बातोंकी कल्पनाएँ बनाकर उस जालमें यह बना रहता है। हे आत्मन्! जरा अपने आपके स्वभावकी महिमाको तो निरखो। तू निष्प्रपंच है, बाह्य मायाजालसे भी रहित है। जो यह बनाव बन गया, शरीर में फंसा है, कर्मोंसे बँधा है, व्यग्रता कर रहा है। इस मायाजालसे भी रहित है और अंतरङ्ग में ज्ञाताद्रष्टा रहनेके अतिरिक्त जितने भी विभाव हैं, भाव प्रपंच हैं उनसे भी तू रहित है। ऐसा प्रपंचरहित शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे विपरीत यह माया कषाय है जिसके तीव्र उदय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
होनेपर चित्तमें व्यग्रता उत्पन्न होती है और पापास्रव होता है ।

सात्त्विकी वृत्तिमें लोभादिक प्रपञ्चोंका अभाव—लोभ बाणके बिंधे हुए सभी मनुष्य सभी जीव अपने आपमें बेचैनीका अनुभव किया करते हैं, जबकि ये समस्त बाह्य पदार्थ अत्यंत न्यारे हैं, उनसे इस आत्माका कुछ भी सम्बंध नहीं है । जैसे नन्हें-नन्हें बालकोंका कुछ भी स्नेह नहीं है इस बड़ेपर । वे तो अपने खेलमें मस्त हैं । छोटे बच्चे तो अपनी बातमें मस्त हैं, पर यह बड़ा पुरुष ही अपने मनमें कल्पनाएँ बनाकर उन बच्चोंके आधीन बन रहा है । कहाँ भागे, कहाँ जाय, कहाँ रहे, बन्धन ही बन्धन बना हुआ है । तो यहाँ वे बच्चे फिर भी चेतन हैं, लेकिन इन अचेतन पदार्थोंके प्रति जो राग बन रहा है वे अचेतन तो थूलमथूल अपनी जगह पड़े हुए हैं, उनका कुछ भी आपपर आकर्षण नहीं है । वैभव, मकान, दूकान, धातु, सोना, चाँदी, कंकर, पत्थर ये आपपर कुछ प्रसन्न हैं क्या ? ये थोड़ा बहुत आपको चाहते हैं क्या ? आपके साथ कुछ लगाव रख रहे हैं क्या ? वे तो अपनी जगह जड़स्वरूप रखते हुए बिराजे हुए हैं । यह लोभ कषाय वाला पुरुष अपने आपमें कल्पनाएं उठा–उठाकर उन ज्वालावोंमें जलता भुनता रहता है ।

कालुष्यके अभावमें ही आत्महित—कषाय तृप्तिका प्रतिबंधक है, निर्दोष आनन्दका बाधक है । तृप्ति और सन्तोष तो शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे ही उत्पन्न होते हैं । अपने स्वरूपको तो देखो । स्वरूपकी भावना करनेसे एक अद्भुत आनन्द उत्पन्न होता है । तू लोभ कषायके वश होकर उस अद्भुत् सहज स्वाधीन आनन्दको बरबाद कर रहा है । ये चारों कषायें इस जीवको संसारमें भ्रमणके कारण हैं । ये कषायें न जगें तीव्र तो चित्तमें जो प्रसाद रहता है वह पुण्यास्रवका कारण है । कभी-कभी अनन्तानुबंधी कषाय मंद होनेपर यह चित्त-प्रसाद अज्ञानी जीवके भी होता है और यह चित्तप्रसाद शुभोपयोग रूप है । तो जिस ज्ञानी जीवके निर्विकार निज अंतस्तत्त्वका अनुभव नहीं जग रहा है तब यह चित्तप्रसाद ज्ञानी जीवके रहा करता है खोटे ध्यानका परिहार करनेके लिए ।

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥१३९॥

पापास्रवका व्याख्यान—पुण्यास्रवके साधनका वर्णन करनेके बाद इस गाथामें पापास्रवका स्वरूप बताया जा रहा है । प्रमाद बहुलचर्या कलुषताकी वृत्ति, विषयोंमें आसक्तिकी परिणति और दूसरे जीवोंका संताप उत्पन्न करनेका परिणमन—ये सब अशुभ भाव हैं । ये पापकर्मका आस्रव किया करते हैं । ये अशुभभाव स्वयं पापरूप हैं । इनको यों निरखिये कि इस ध्रुव आत्मासे ये पापभाव निकले हैं और इस ध्रुव आत्मासे एक उपाधिके सम्बन्धसे पापभाव निकलकर ये इस जीवके उपयोगमें आये हैं । यों इस पापभावका इस जीवमें

Version 1

आस्रवरण होता है और इस भावका निमित्त पाकर जो पापप्रकृतियोंका बन्धन होता है वह है द्रव्यपापास्रव ।

प्रमादबहुल चर्या—प्रमाद नाम है उसका जो भी परिणति आत्माके शुद्धस्वभावको ढकने वाला हो । एक जगह पड़े रहना, लेटे रहना इसका नाम इस प्रकरणमें प्रमाद नहीं है किन्तु आत्माका जो चैतन्य चमत्कार परिणमन है वह शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहे इस प्रकारका विशुद्ध परिणमन है उसका प्रतिबन्ध करने वाला जो विभाव है उसका नाम प्रमाद है । उस विभाव के वश होकर जो कुछ इस जीवकी परिणति बनती है, मिथ्याचारित्र बनता है, विपरीत आचरण बनता है ये सब पापभाव हैं और द्रव्यपापकर्मका आस्रव करनेका कारण है । मोक्ष-मार्गमें अनुत्साह होनेका नाम प्रमाद है । जो जीवका विशुद्ध कर्तव्य है, कार्य है, सात्विकभाव है, उस भावमें आलस्य होना इसका नाम प्रमाद है । तो मोक्षमार्गके कार्योंमें अनुत्साह रहने का नाम है प्रमाद ! प्रमादसे पापका आस्रव होता है ।

विषयलौल्य और कालुष्य भाव—विषयोंमें आसक्तिका परिणाम होना विषयलोलुपता है जो कि आत्मसुखके सम्वेदनसे अत्यन्त विरुद्ध है । विषय प्रवृत्तियोंमें किसी भी जीवने सुख साता नहीं पायी । विषयोंसे अतीत होकर ही आत्माको वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है । शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहे इस स्थितिमें ही उसे विशुद्ध आनन्द प्राप्त होता है । उस आनन्दसे प्रति-कूल विषयोंकी लीनताका परिणाम हो तो यह विषयलोलुपताका परिणाम स्वयं पापरूप है और द्रव्यपापकर्मके आस्रवका कारण है चित्तमें कलुषताका होना, जिसका विशेष वर्णन पूर्व गाथामें आया है ।

परिताप व अपवाद—पापास्रवके परिणाम आत्मस्वभावसे अत्यन्त प्रतिकूल है । आत्माका स्वभाव तो कलुषतारहित जैसा स्वयं सहज अपने आप स्वभाव पड़ा हुआ है, चैतन्यभाव है, उस चैतन्यभावमें चैतन्यभावका परिणमन होना, विशुद्ध चमत्कार होना अर्थात् केवल जाननहार रहना, इस स्थितिसे अत्यन्त विपरीत भाव है । यह कलुषताका परि-णाम पापभाव है और द्रव्यपापास्रवका कारण है । यों ही दूसरे जीवका अपवाद करना, दूसरे जीवका परिताप करना—ये दोनों भी जीवस्वभावसे अत्यन्त विपरीत हैं । आत्माका स्वभाव निरपवाद है, अपने आपके अनुभव करनेका है, उसमें विशुद्ध आनन्द है । उससे उल्टा जो भी भाव है यह सब भाव अशुभ है । स्वयं पापरूप है और द्रव्य पापके आस्रवका कारण है ।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥१४०॥

भावपापास्रवका वर्णन—इस गाथामें पापकर्मके आस्रवका कारणभूत भावपापास्रवका वर्णन किया है । संज्ञायें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह नामक ४ प्रकारकी वासनाएँ और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या—ये तीन लेश्याएँ इन्द्रियके विषयोंके आधीन रहनेका परिणाम चार प्रकारके आर्तध्यान और चार प्रकारके रौद्रध्यान तथा बहुत प्रकारसे प्रयोग किए हुए उपयोग और मोह ये समस्त विभाव पापको उत्पन्न करने वाले होते हैं।

संज्ञाओंसे पापास्रव—तीव्र मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई जो आहार, भय, मैथुन परिग्रहकी संज्ञायें हैं ये पापभावको उत्पन्न करती हैं। यद्यपि आहारसंज्ञा छठे गुणस्थान तक है, भय ८वें गुणस्थान तक है, मैथुन ९वें गुणस्थान तक है, परिग्रह संज्ञा १०वें गुणस्थान तक है, और इस दृष्टिसे कुछ ऐसी आशंका हो सकती है, तब क्या मुनियोंके भी पापका बंध होता रहता है? इसके उत्तरमें दो बातोंपर ध्यान दीजिए विशेषतया। तीव्र मोहनीय कर्मके साथ ये संज्ञाएँ होती हैं तो पापबंधके कारण बनती हैं। दूसरी बात यह है कि संज्ञावोंको जो स्वरूप है उस स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो उन मुनियोंके ये संज्ञायें भी किन्हीं जघन्य अंशोंमें पायी जाती हैं और विशेष अंशोंमें शुभ परिणाम शुद्ध परिणाम वैराग्य भाव भी पाया जाता है। तब जितने अंशमें संज्ञावोंका कार्य है उतने अंशमें पापका बंध है और जितना यह विशाल क्षेत्र सम्वेग और वैराग्यका है उतना उनके पुण्यास्रव और सम्वर, निर्जराएँ चलती हैं, पर यह न कहा जायगा कि आहार संज्ञा पुण्यबंध कराती है या भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञा पुण्यबंधका कारण है। भले ही ९९ प्रतिशत पुण्यास्रव वालेके एक प्रतिशत पापास्रब हो तो कुछ मालूम न हो, लेकिन जिस भवकी जो प्रकृति है उस भावसे उस ही प्रकारका कार्य होता है। तो ये संज्ञाएँ पापास्रवके कारणभूत हैं।

अशुभलेश्याओंसे पापास्रव—कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएँ तीव्र कषायके उदयसे अनुरंजित योगके प्रवर्तनमें हुआ करती हैं, अतएव ये तीन अशुभ लेश्याएँ पापास्रव करने वाली हैं। ज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवके भी पीतपद्मशुक्ल लेश्याएँ चल रही हों तो चूंकि वे शुभ लेश्याएँ हैं, शुभपरिणामका सम्बन्ध है, उनके भी पुण्यका आस्रव हो जाता है और कदाचित सम्यग्दृष्टि जीवके भी जैसे कि चतुर्थ गुणस्थान तक कृष्ण नील कापोत लेश्याएँ सम्भव हैं। ये लेश्याएँ हैं तो इसके कारण उनके भी पापका आस्रव चलता है। लेकिन साथमें कर्मोंका विध्वंस करनेमें समर्थ सम्यग्दर्शनका परिणाम होनेसे अन्य बातें भी, शुभ बातें भी अन्तः बनी रहती हैं, अतएव उस पापका प्राबल्य नहीं होता है। ये तीन लेश्याएँ पापास्रवके कारण हैं। यह आत्मतत्त्व कषाय और योग दोनोंसे शून्य है। न इसमें कषाय करनेका स्वभाव है और न इसमें हलन-चलन करनेका स्वभाव है। अतएव विशुद्ध चैतन्यप्रकाशस्वरूप है। उससे भिन्न और कषायके उदयसे रंजित योग प्रवृत्ति रूप ये तीन लेश्याएँ इस जीवके पापरूप हैं, पापके कारण हैं और जीवके शुद्ध प्राणोंका घात करने वाली हैं।

आत्मदृष्टिका अनुरोध—भैया! इस जीवपर जो वास्तवमें आपदा आ रही है उसपर

Version 1

तो यह मोही प्राणी दृष्टि नहीं देता और जिन पदार्थोंसे रंच भी सम्बन्ध नहीं है उन बाह्य पदार्थोंके रहने या न रहनेको विपदा मानता है। और ऐसी मुग्ध दशामें फिर उन विपत्तियोंसे बचनेका जो भी उपाय करता है वह उल्टा ही करता है। किसी क्षण अपने स्वरूपकी खबर लो। जैनशासन पानेका तो यही लाभ है। रोज-रोज २४ घंटेमें १०-५ मिनट विशुद्ध हृदय से सम्यग्ज्ञानका प्रयोग करते हुए अपने आपके आनन्दघन निर्बाध कल्याणमय परमात्मतत्त्वकी सुध ले लिया करें, इससे बढ़कर अन्य कुछ समृद्धि नहीं है। इसकी सुध बिना कषायोंके तीव्र उदयसे जो प्रवृत्तियां होती हैं उन प्रवृत्तियोंसे पापका आस्रव होता है।

विषयाधीनतासे पापास्रव—पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंके आधीन बन जाना यह भी पापास्रवका कारण है। आत्माकी शुद्ध परिणति तो अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद लेते रहें इस प्रकार की है और यह आनन्द स्वाधीन है। वह आनन्द है क्या ? जो दुःख होते हैं उन दुःखोंको न न करें, आनन्द तो हाजिर ही है। जो केवल दुःखके कारण हैं, दुःखस्वरूप हैं, ममता और मोहसे मिले हुए हैं उन परिणतियोंसे हट जाय, आनन्द तो स्वयमेव बना ही हुआ है। स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्दकी परिणतिमें बाधा देने वाली यह पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी आधीनता है वह पापकर्मोंका आस्रव कराती है। इन्द्रिय विषयोंकी लीनता आसक्ति चाह स्वयं पापपरिणाम है और ऐसे पापपरिणामके समय पापप्रकृतियोंका ही बन्ध होता है।

आर्तध्यानसे पापास्रव—इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाप्रभव और निदान ये ४ प्रकारके आर्तध्यान ये शुद्ध चैतन्यकी भावनाका विनाश करने वाले हैं। कल्याणार्थी पुरुषोंको चाहिए तो यह कि अपनी भावना निर्दोष इच्छारहित ज्ञायकस्वरूपमात्रकी बनाएँ। इस ही में परमकल्याण है। उस भावनाका एकदम घात कर देने वाले ये ८ प्रकारके ध्यान हैं—४ आर्तध्यान और ४ रौद्रध्यान। जिस समय इष्टके वियोग हो जानेपर उस इष्टभूत परपदार्थकी ओर चित्तका आकर्षण रहता है उस आकर्षणके समय इस विशुद्ध चैतन्यकी भावना कहां रह सकती है ? किसी अनिष्टका संयोग हुआ हो अथवा किसी बैरी पुरुषका समागम हुआ हो तो उस कालमें कितनी अंतरगमें बेचैनी रहती है ? इसका कैसे शीघ्र विनाश हो, कैसे टले, उसके वियोगकी भावना जहाँ बनी रहती हो वहाँ शुद्ध चैतन्यकी सुध करनेका कहाँ ख्याल रह सकता है ? शारीरिक रोग होनेपर उस रोगपर ही दृष्टि रहे, यह और बढ़ न जाय, यह रोग मिटेगा कि नहीं, हाय ! मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है, मैं बरबाद हो रहा हूं, मैं बहुत दुर्बल हो गया, यों इस देहके प्रति भावना रहे तो ऐसे ख्यालके समय विशुद्ध चैतन्यकी भावना कैसे हो सकती है, और निदान जो आर्तध्यानका सबसे खोटा ध्यान है, जब किन्हीं इन्द्रिय विषयोंके उपभोगकी आकांक्षा रहती है तो उस चाहके समयमें चैतन्यस्वरूपकी भावना कहां रह सकती है ? निदान नामक आर्तध्यान एक दुष्ट आर्तध्यान है और यह पंचम गुणस्थान तक ही बनाया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गया है । छठे गुणस्थानमें निदानका अंश नहीं रहता और पंचम गुणस्थानमें शुभरूपसे निदान चलता है । मुझे परभवमें भी धर्मका समागम मिले, अच्छी जाति कुलमें उत्पन्न होऊँ, इस धर्म का वियोग न हो, ऐसे शुभ ध्यान होते हैं उन्हें भी निदान ही बताया है । ये भी करने योग्य नहीं कहे गए हैं । ये ४ प्रकारके आर्तध्यान पापास्रवके कारणभूत हैं ।

रौद्रध्यानसे पापास्रव—हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, विषयसंरक्षणानन्द नामके ४ रौद्रध्यान ये क्रूर चित्तमें उत्पन्न होते हैं । भला कोई किसीको मार रहा है और उस हिंसा को देखकर आनन्द माने अथवा स्वयं हिंसा करता हुआ आनन्द माने यह कितनी क्रूरताकी बात है ? किसीकी झूठ चुगली करके, झूठ बोलकर, झूठी गवाही देकर आनंद मानना, जिसके प्रति झूठ बोला गया है उसका चित्त किसी प्रकार विह्वल हो रहा, इसकी ओर सुध नहीं है, बल्कि उसकी विवशता निरखकर और आनन्द मानता है, ऐसे झूठमें जिससे आनन्द माना है उस जीवका कितना क्रूर चित्त है, इसी प्रकार चोरीकी प्रवृत्ति, चाहे मजाक समझ लीजिये या कुछ सत्यका प्रतीक समझ लीजिए, लोग इस धनको ११वां प्राण कहा करते हैं । प्राण तो १० ही होते हैं । धन कोई प्राण नहीं है, मगर ११वां प्राण बता दिया । ऐसे परधनको कोई चुराये, उसके चुरानेका उपाय बताये और इसमें ही रुचि रहा करे, ऐसे चौर्यानन्द रौद्रध्यान वालेका चित्त कितना क्रूर है, और विषयसंरक्षणानन्दकी बात देखिये—अपने इन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंके संरक्षण करनेमें जो आनन्द मानता है उसने दूसरेको तो ओझल ही कर दिया है, खुदकी ही गरज निभानी चाही है, अपने-अपने ही मतलबका जो विषयसंरक्षण किया जा रहा है उसमें भी चित्त क्रूर रहता है । इस क्रूर चित्तमें उत्पन्न हुआ यह ४ प्रकारका रौद्रध्यान पापकर्मोंके आस्रवका कारण है और यह स्वयं भाव पापरूप आस्रव है । यह क्रूर परिणाम इस निर्दोष शुद्ध आत्मानुभूतिकी भावना नहीं करने देता ।

दुःप्रयुक्त ज्ञानसे पापास्रव—आस्रव पदार्थोंके प्रकरणमें पुण्यास्रव ही का पहिली गाथावोंमें वर्णन करके इसके पूर्व गाथामें और इस गाथामें पापास्रवका वर्णन किया जा रहा है । शुभ और अशुभोपयोगको छोड़कर अन्य साधनोंमें इष्ट भावोंमें लगाया हुआ जो ज्ञान है उसे कहते हैं दुःप्रयुक्त ज्ञान । मिथ्यात्व और रागादिक भावोंके आधीन होनेसे जो खोटे विषयों में ज्ञान उलझता है वहाँ उपयोगका आकर्षण रहता है अर्थात् अशुभोपयोग रहता है, वह अशुभोपयोग स्वयं पापरूप है और पापप्रकृतिके आस्रवका कारण है । अशुभोपयोग पापरूप है, शुभोपयोग पुण्यरूप है और शुद्धोपयोग पाप-पुण्यसे रहित अशुद्ध वर्तनारूप है । दुष्प्रयुक्त ज्ञानमें शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि नहीं और शुभ कार्यकी भी प्रवृत्ति नहीं । वहाँ तो विषयकषायोंके आधीन होकर यह कुमार्गमें लगा रहता है । यह अशुभोपयोग पापको उत्पन्न करने वाला है ।

मोहसे पापास्रव—मोह दो प्रकारका होता है—एक दर्शनमोह और एक चारित्रमोह ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दर्शनमोहके उदयसे तो दृष्टिका व्यामोह हो जाता है, शुद्ध परख नहीं रह पाती। 'मैं क्या हूं' इसकी वास्तविक सुध नहीं है। परको मैं माने और मैं की सुध नहीं रहे, ऐसी कुदृष्टि दर्शन-मोहमें हो जाया करती है। यह दर्शनमोह पापको ही उत्पन्न करने वाला है। चारित्रमोहमें अनेक प्रकारके विकल्प उठते हैं, अनेक विभिन्न आचरण होते हैं। यह चारित्रमोह भी स्व-सम्वेदनका विनाश करने वाला है। ये दोनों प्रकारके मोह पापपरिणामको उत्पन्न करने रूप हैं और पापप्रकृतियोंको उत्पन्न करते हैं। यह सब विभाव परिणामोंका समूह पापोंको उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार पापास्रवके प्रकरणमें इतनी बातोंको इस गाथामें कहा है। संज्ञायें, अशुभलेश्या, इन्द्रियवशता, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, अशुभविकार, दर्शनमोह, चारित्रमोह—ये पापपरिणामको उत्पन्न करते हैं।

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठमग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं पिहियं पापास्रवं छिद्दं ॥१४१॥

संवर पदार्थका आख्यान—अब सम्वर पदार्थका व्याख्यान हो रहा है। आस्रव पदार्थके वर्णनके समय २ प्रकारके आस्रव कहे गए थे—एक पापास्रव और एक पुण्यास्रव। इनमेंसे पुण्यास्रवका तो वर्णन पहिले किया था और पापास्रवका वर्णन बादमें किया गया था, ऐसा वर्णन करनेका एक व्यावहारिक कारण यह हो सकता है कि सबसे पहिले इन जीवोंमें पुण्या-स्रवकी बात सुनायें और जिसमें कुछ चित्त लगे। जिस बातको सुनते हैं उस तरहका उपयोग भी तो कुछ-कुछ बनाना पड़ता है। तो पुण्यास्रवकी ही बात जब पहिले बतायी गयी है तो उस तरहका कुछ अपना दिमाग भी बनाया गया था और उस स्थितिमें विशुद्ध भाव, सन्तोष भाव, धर्मकी प्रीति ये सब बातें उत्पन्न हुई हैं। फिर पापास्रव त्यागने योग्य है, इस बातका वर्णन किया है।

पापास्रवके संवरकी प्राथमिकता—अब संवर पदार्थोंके वर्णनके प्रसंगमें सबसे पहिले पापास्रवका संवर बतला रहे हैं। इसमें भी यह कारण हो सकता है कि इस गाथासे पहिले चूँकि पापास्रवका वर्णन है तो अनन्तर होनेके कारण पापका ही संवर एकदम बता दिया गया है। दूसरा कारण यह है कि पापका संवर प्रथम ही होना जरूरी है। इससे पाप संवरको प्राथमिकता दी गई है। पापकर्म रुके तो सद्‌बुद्धि जगे और यह धर्मपथमें आगे चले तो फिर आगे पुण्यका भी संवर करके यह शुद्धमार्गमें एकदम बढ़ जायगा। और उपदेश भी यही है कि पापको पहिले रोको और बादमें स्वाधीन होकर दृढ़ बनकर फिर पुण्यको भी रोको और यों पाप पुण्य दोनोंसे रहित होकर शुद्ध आनन्दका अनुभव करो।

संवरपद्धति—पाप और पुण्य दोनोंको एकदम रोकनेको किसी भी प्राथमिक प्राणीको उपदेश नहीं किया गया है। कुछ समझ तो बने, कुछ पाप तो मंद हो, उस पुण्य पवित्र

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्रियाके प्रसादसे ये पातक तो कम हों, फिर पाप पुण्य दोनोंका भी संवर करो और किसीको ऐसा भी नहीं कहा गया कि पहिले पुण्यका तो संवर कर लो, पीछे पापको रोकना। ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता। वहां लग रहा है बड़ा अच्छा। पुण्यका रोकना बड़ा आसान लग रहा है। पहिले पुण्यको खतम करो, पापको पीछे देखना। यह तो सब जीवोंको आसान लग ही रहा है। यह कोई सिद्धिकी बात नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे इस गाथामें प्रथम ही पाप के संवरका वर्णन किया गया है।

पापास्रव छिद्रका निरोध—जिन प्राणियोंने इन्द्रिय मन कषाय और संज्ञा—इन सबको इस संवर मार्गके लिए अथवा संवर मार्गमें रोक दिया है तब उनके पापास्रवरूपी छिद्र आच्छादित हो गया है, ऐसा समझिये। मार्ग तो यह संवर है। उस संवरभावका निमित्त क्या है? जितने अंशोंमें जितने काल तक ये इन्द्रियां कषायें संज्ञायें रुद्ध हो जाती हैं इनका निग्रह हो जाता है उतने अंशमें उतने काल तक पापास्रवका द्वार बंद हो जाता है। इन्द्रियाँ ५ हैं और एक मन अन्तरंगकी इन्द्रिय हैं, इन ६ का विषय कई बार वर्णनमें आ चुका है। क्रोधादिक कषायें, आहार आदिक संज्ञाएँ ये भाव पापास्रव हैं और ये द्रव्य पापके आस्रवके कारण हैं। जब यह भाव पाप रुक गया तो द्रव्यपाप कहांसे आयगा? जैसे नावमें छिद्र है जिससे नावमें पानी भर रहा है तो सबसे पहिले छिद्र रोका जाता है, फिर पानी उलीचा जाता है। तो इस भावपापका निरोध कर देना यही है भावसंवर। यह संवर द्रव्यपाप प्रकृतियोंके संवरका कारणभूत है। कर्तव्य बताया गया है इसमें कि तुम ऐसा ज्ञान बनावो जिससे यह भाव पाप समाप्त हो जाय। इस संवरके मार्गसे ही हम आपको शान्तिकी प्राप्ति होगी।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१४२॥

आस्रवकी अपात्रता—जिस आत्माके रागद्वेष और मोह नहीं हैं, किसी भी विषयमें जिस जीवके शुभ और अशुभ कर्मोंका आस्रव नहीं होता ऐसा योगी रागादिक दोषोंसे रहित शुद्धोपयोगके कारण तपस्वी है, तपोधना है। यह आत्मा सर्वप्रकारके शुभ अशुभ संकल्पोंसे रहित शुद्ध आत्माके ध्यानसे उत्पन्न हुए सहज आनन्दरसका भोगने वाला होता है और इस आनन्दामृतकी अनुभूतिसे उत्पन्न हुई तृप्तिके कारण यह सुख और दुःखमें समान है। इसमें सुख दुःख हर्ष विषाद आदिक विकार अब प्रकट नहीं होते हैं। ऐसे शुद्धोपयोगी जीव विरक्त ज्ञानी साधुसंत पुरुष जिनको केवल अपने स्वरूपकी रुचि है, रुचि क्या, इस स्वरूपमात्र मैं हूं, इस प्रकारका जो अनुभव करते हैं बस वे ही समस्त संकटोंसे दूर रहते हैं। जिस जीवको अपने आपके सम्बन्धमें एतावन्मात्र मैं हूं, ज्ञानप्रकाश मैं हूं, ऐसा बोध नहीं रहता है उसकी

Version 1

बाह्यमें दृष्टि जगती है और उस बाह्य दृष्टिमें यह क्षुब्ध बना रहता है।

सुख दुःखके कारणोंमें समानता—ज्ञाता आत्माके समस्त परद्रव्योंमें न राग है, न द्वेष है, न मोह है, केवल निर्विकार चैतन्यस्वरूप उपयोगमें है, वह सुख दुःखमें समान है। जो जीव सुख और दुःखको एक समान देखता है उसके यह भी श्रद्धा है कि पुण्यका कारणभूत शुभोपयोग और पापका कारणभूत अशुभोपयोग ये भी समान हैं। यद्यपि अपेक्षाकृत इनमें अंतर है। अशुभोपयोगसे शुभोपयोग कुछ एक शान्ति और धर्मका वातावरण उत्पन्न करने वाला है, किन्तु निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वरूपके समक्ष ये दोनों प्रकारके उपयोग इसके प्रतिपक्ष हैं। यों पुण्य पाप भावमें, पुण्य पाप कर्ममें और सुख दुःखमें जिसके समानताकी बुद्धि उत्पन्न हुई है ऐसे पुरुषके न पुण्यका आस्रव होता है और न पापका आस्रव होता है, किन्तु एक संवररूप ही दशा रहती है।

भावसंवर—यहाँ यह जानना कि मोह रागद्वेष वीतराग न होने रूप शुद्ध चैतन्यप्रकाशका नाम भावसम्वर है और भावसम्वरका निमित्त पाकर शुभ अशुभ कर्म परिणाम भी जो रुक जाते हैं वे द्रव्यसम्वर हैं। द्रव्यसम्वरपर इस आत्माका वश नहीं है, किन्तु वह तो स्वयं होता ही है। यह आत्मा भावसम्वरका करने वाला है। यह आत्मा एक ज्ञानस्वरूप है, यह अपने ज्ञानका उपयोग बाह्यको अपनानेका न करे और अंतःस्वरूपमात्र मैं हूं ऐसी अपनी व्यवस्थित बुद्धि बनाये तो उसके सम्वरभाव प्रकट होता है।

द्वितीय गुणस्थानसे संवरका प्रारम्भ—जिस गुणस्थानमें जितने अंशमें सम्वरभाव प्रकट होता है उस गुणस्थानमें उस-उस प्रकारसे कर्म प्रकृतियोंका बंध रुक जाता है। जैसे दूसरे गुणस्थानमें १६ प्रकारकी प्रकृतियोंका बंध नहीं होता, मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक वेद, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरक आयु—इन १६ प्रकृतियोंका बंध दूसरे गुणस्थानमें नही होता, सम्वर है। यद्यपि यह द्वितीय गुणस्थान सम्यक्त्वसे गिरनेपर होता हैं और उसके अयथार्थ भाव है, अनन्तानुबंधी कषायका उदय है, किन्तु मिथ्यात्व प्रकृति का उदय न होनेके कारण वहाँ १६ प्रकृतियोंका बंध नहीं होता।

उपरितन गुणस्थानोंमें संवरका क्रम—तीसरे गुणस्थानमें २५ प्रकृतियां और भी बंध से रुक जाती हैं और ये १६ और २५ मिलकर ४१ प्रकृतियाँ चौथे गुणस्थानमें भी नहीं बँधती हैं। इन २५ प्रकृतियोंमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय आदिक वे प्रकृतियां हैं जो अनन्तानुबंधी कषायके उदयके कारण बँधा करती थी। तीसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबंधीका उदय नहीं हैं। इस कारण अनन्तानुबंधीके उदयसे होने वाली प्रकृतियोंका सम्वर हो जाता है। पंचम गुणस्थानमें १० प्रकृतियोंका बंध और रुक जाता है। आगे देखिये छठवेंमें ४ का, ७वें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में ६ प्रकृतियोंका, ८वेंमें १ का, ९वेंमें ३६का, १०वेंमें ५ का, १२वेंमें १६ का व योगियोंके १ का बंध और रुक जाता है।

द्रव्यसंवर—इस प्रकार जहाँ जैसा शुद्धोपयोग प्रकट हो वहाँ उतनी प्रकृतियोंका बंध रुक जाया करता है। यह है द्रव्यसम्वर। और कर्मप्रकृतियोंके बंध रुक जानेका कारणभूत जो शुद्ध भाव है वह है भावसम्वर। इस गाथामें शुभ और अशुभ परिणामोंका सम्वर करनेमें समर्थ शुद्धोपयोगको भावसम्वर बताया है और भावसम्वरके आधारसे जो नवीन कर्मोंका बन्ध रुक जाता है उसे द्रव्यसम्वर कहा है।

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहक दस्स कम्मस्स ॥१४३॥

शुभाशुभ कर्मोंका संवरण—जिस विरत पुरुषके मन, वचन, कायमें अशुभ परिणाम और शुभ परिणाम नहीं है उस मुनिके शुभ अशुभ भावोंसे उत्पन्न होने वाले कर्मोंका संवर हो जाता है। संवर नाम है आस्रवके रुकनेका। आस्रवका द्वार है मन, वचन, काय–इन तीन योगोंकी प्रवृत्ति। आना और बँधना–दो काम हुआ करते हैं। आनेमें कारण है योग और बँधने में कारण है कषाय। तो योगी पुरुषकी कषाय मंद रहती है और गुप्तिका यत्न रहता है। मनका वशमें करना मनोगुप्ति, वचनका वशमें करना वचनगुप्ति और कायका वशमें करना कायगुप्ति। इन युक्तियोंके बलसे आस्रवका निरोध होता है।

योगका परिणाम—व्यवहारमें भी हम देखते हैं। चुपचाप बैठे रहें, मत बोलें तो वहाँ आपत्तिका जाल नहीं होता और कुछ बोलें तो उन वचनोंसे आपत्तिका जाल आने लगता है। भले ही कोई आपत्ति रागरूप हो, कोई आपत्ति द्वेषरूप हो, पर बोलनेके बाद क्षोभ तो होता ही है। यों ही रहो, कुछ मत सोचो कोई विपदा नहीं है। जहाँ मनमें सोचविचार हुआ, कल्पना जगी वहाँ ये सब विपदायें आने लगती हैं। ऐसे ही शरीरसे कोई प्रवृत्ति नहीं कर रहे, सम्यग्ज्ञानपूर्वक कायका निरोध किया जा रहा है वहाँ विपदा काहेकी? जहाँ इस देहसे कोई प्रवृत्ति की, कुछ कार्य किया, इष्ट अथवा अनिष्ट कल्पनाएँ जगीं, लो इससे उसके अन्तः क्षोभ रहता है और वाहरमें किसी पुरुषको अपनी काय चेष्टा पसंद आये, किसीको न पसंद आये तो परकी ओरसे भी विपदा हो जाया करती है। यह तो व्यावहारिक बात है।

मानसिक योगका फल—अब जरा अन्तः निरखिये–यहाँ मनमें कुछ भी हलन-डुलन हो वहाँ कर्म आ जाते हैं। वचनसे कुछ भी परिस्पंद हुआ वहाँ कर्म आ धमकते हैं। ऐसे ही शरीरकी प्रवृत्तिसे योग हुआ वहाँ कर्म आ धमकते हैं। यहाँ तथ्यभूत बात यह जानना कि मन, वचन, कायकी हलनसे कर्म नहीं आते, किन्तु मन, वचनकायकी हलनसे उसका निमित्त पाकर आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पंद होता है और आत्मप्रदेशोंके परिस्पंदके निमित्तसे कर्म आते

Version 1

हैं। कर्म आनेका कारण है योग और योग होनेका कारण है मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति। जो योगी मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे निवृत्त है, कषायोंसे दूर है, शुभ परिणाम रूप पुण्यभावको अथवा अशुभ परिणामरूप पापभावको नहीं करता है उस जीवके उस समय शुभ अशुभ कर्म द्रव्यकर्मका संवर स्वयं हो जाता है।

परिणामोंकी संभालका कर्तव्य—भैया! अपनेको करनेका काम अपने परिणामोंकी सम्हाल है और वास्तविक ढंगसे यदि अपने परिणामोंकी सम्हाल हो सकी तो वहाँ फिर संकट माने जाते हैं। वे सब संकट तभी तक हैं जब तक अपने परिणामोंकी सम्हाल नहीं है। एक अध्यात्मक्षेत्रकी बात कही जा रही है। घरका क्या होगा, बच्चे कैसे रहेंगे, गांवमें पोजीशन क्या रहेगी, क्या स्थिति बनेगी, ये सारे विचार जब चलते हैं तो उपयोगमें संकट हैं। लगता भी ऐसा कि बात सच है। घरके बच्चे हमारे ही तो आधीन हैं, लेकिन अध्यात्मक्षेत्रकी ओरसे इसका समाधान लें तो अपने परिणामोंकी सम्हाल कर लें तो वे कोई संकट रह सकेंगे क्या? जब अध्यात्मकी अनुभूति चल रही है तो पहिली बात तो यही है कि परिजनका विकल्प भी वहाँ नहीं ठहरता, संकट काहेका, और मानो अध्यात्मकी अनुभूति हो तो चुकी, पर इस समय नहीं है, इस समय परिजनोंके प्रति ध्यान ही हो रहा है तो वहाँ भी संकट कम हैं, क्योंकि अन्तः यह प्रतीति पड़ी हुई है कि प्रत्येक जीव स्वयं अपने-अपने स्वरूपसे सत् है और उन जीवोंके साथ उनके कर्म लगे हुए हैं, वे सुरक्षित रहते हैं, अपने-अपने कर्मोंके कारण संसारमें सुरक्षित रहते हैं।

पुण्यवंतोंकी चिन्ताका नाटक—भला छोटे-छोटे बालक, बच्चे जो न आपको कमाकर खिला सकें, न किसी काम आ रहे हैं, दो-दो, चार-चार, छः-छः वर्षके बच्चे कुछ आपकी सेवा भी नहीं कर रहे हैं, पर आप उन बच्चोंकी कितनी प्रीतिपूर्वक सेवा करते हैं? गोदमें लें, खिलायें, उनका मन रखें, उन्हें प्रसन्न देखना चाहें, क्या इच्छा है उसकी पूर्तिका बड़ा यत्न करें तो हमें आप यह बतलावो कि पुण्य किसका विशेष है? सेवा करने वाले जो आप हैं, आपका पुण्य बड़ा है या उन छोटे बच्चोंका पुण्य बड़ा है? छोटे बच्चोंका पुण्य विशेष है। जिससे आप भी उनकी उतनी सेवा करते हैं। और फिर दूसरे ये बालक पूर्वभवके पुण्यके प्रसादसे यहाँ मनुष्यभवमें आये हैं, इन्होंने अभी बड़ी उम्र नहीं पायी, इनमें विकार उद्दण्ड नहीं हुए, कषायें अभी इनमें विशेष जागृत नहीं हुईं, रागद्वेष मोहकी प्रबलता, कषायोंकी प्रबलता इनमें अभी नहीं हुई तो इनका पुण्य आपसे विशेष है। बड़ोंने बड़ी उम्र पाकर बहुत-बहुतसे विकल्प बना डाले, उससे कुछ आज हीनता है तो बतलावो ये पुण्यवान बालक जो तुमसे अधिक सुरक्षित हैं उनका भाग्य अच्छा है या आपका? भाग्य तो उन बालकोंका ही अच्छा है। देखो तो गजब, समर्थोंकी चिन्ता की जा रही है। तीसरी बात यह है कि जिस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवके जिस समय जिस विधिसे जो होनेको है उसमें हम आप क्या फर्क डाल सकेंगे ? तब अन्य चिन्ताओंसे सिद्धि क्या है ?

भावसंवरके अधिकारका प्रयोग—यह ज्ञानी सत्पुरुष अपने स्वरूपकी सम्हालके कारण निराकुल रहा करता है। तब प्रधान बात क्या हुई ? कर्मोंमें जो होना है वह कर्मोंके कारण होगा, निमित्तनैमित्तिक भावोंमें हो जायगा, पर प्रधान बात है आप अपने शुभाशुभ परिणामों का निरोध करें। भावसम्वर और द्रव्यसम्वर इन दोनों सम्वरोंमें आपका अधिकार भाव-सम्वरपर है। अपने परिणामोंकी सम्हाल करनेसे ही सब काम अपने आप ओटोमेटिक स्वयं हो जाते हैं—कल्याणके लिए जो कुछ चाहिए। तब द्रव्यपुण्य और द्रव्यपापके सम्वरका कारणभूत यह भावपुण्यसम्वर और भावपापसम्वर प्रधान है। हम अधिकाधिक अपने आपको इस प्रकारसे निहारनेका यत्न करें कि यह मैं आत्मा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूं, अमूर्त हूं, देहादिकसे भी जुदा हूं, इन समस्त बाह्य परिग्रहोंसे भी जुदा हूं। केवल अपने स्वरूपमात्र हूं। जब कभी व्यवहारके विकल्प उठें, हाय यह घर छूटा जा रहा है, अरे तो क्या हुआ, दूसरे घरपर पहुंचेंगे। परिणामोंकी सम्हाल है तो इससे बढ़िया स्थानपर पहुंचेंगे। यह वैभव छूटा जा रहा है। अरे अपने आपके परिणामोंकी सम्हाल करो, यही है वैभव पानेकी कुञ्जी। वह अपने हाथ है तो उससे भी कई गुना वैभव आगे मिलेगा। एक अपने आपके एकत्वस्वरूपको यह जीव देखे तो इसके व्याकुलता नहीं रह सकती है। मोह क्षोभसे रहित आत्माके शुद्ध परि-णामोंका नाम है सम्वर तत्त्व।

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे वहुविहेहि।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥१४४॥

कर्मनिर्जरण—संवर और शुद्धोपयोगसे सहित जो पुरुष नाना प्रकारकी तपस्यावोंसे अपने आपमें चैतन्य प्रतपन करते हैं वे पुरुष निश्चयसे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। इस गाथामें निर्जरा पदार्थका व्याख्यान किया गया है। संवर नाम है शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के परिणामोंके निरोध हो जाने का। परिणामोंका निरोध टक्करसे नहीं हुआ करता। जैसे अशुभ परिणामका निरोध शुभपरिणामसे किया गया तो अशुभ परिणाम और शुभ परिणाम इन दोनोंमें भिड़न्त हुई हो और फिर शुभोपयोगसे अशुभोपयोगको हटाया हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जीवके एक समयमें एक उपयोग होता है। जिस कालमें इस जीवके शुभोपयोग परिणाम हो रहा है उस कालमें अशुभोपयोगका अभाव है और यों सत्त्वमें आक... योगने अशुभोपयोगका निरोध किया—यों कहा जाता है। जैसे अंगुली सीधी है ... करें तो इस टेढ़ी पर्यायने सीधी पर्यायका निरोध कर दिया। पर सीधी प... पर्यायमें भिड़ंत नहीं हुई और इस टेढ़ी पर्यायने सीधी पर्याय हटायी हो ऐसी भी बात नहीं है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किन्तु एक समयमें कोई एक परिणमन होता है। जब इस अंगुलीकी टेढ़ी परिणति हुई तो सीधी परिणति अपने आप रुक गई। यों इस जीवके जब शुभोपयोग हुआ तो अशुभोपयोग रुका हुआ है, शुद्धोपयोग ढका हुआ है। जब जीवके शुद्धोपयोग प्रकट हुआ तो शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोंका अभाव है। यह तो है संवर और यह संवर ही है शुद्धोपयोग। अथवा संवरमें नास्तिरूपसे वर्णन है और शुद्धोपयोगमें अस्तिरूपसे वर्णन है।

तपश्चरणोंमें अनशनतपका प्रयोजन—शुद्धोपयोगसे युक्त साधुके जब ६ प्रकारके बहिरंग तपोंसे और ६ प्रकारके अन्तरङ्ग तपोंसे जो कि अपने अन्तर्गत अनेक रूप है, जब तपश्चरण रूप प्रवर्तन होता है तो बहुतसे कर्मोंका निर्जरण हो जाता है, कर्म अकर्मरूप हो जाते हैं, कर्मोंकी स्थितियाँ घट जाती हैं। वे १२ प्रकारके तप क्या हैं? एक चैतन्यमें प्रतपन करने के साधन हैं। जिस साधुने अनशन व्रत लिया है उस साधुका यह ध्यान है कि मेरे आत्माका स्वभाव ही अनशन है अर्थात् भोजन न ग्रहण करना है और यह आत्मा जब अनशन स्वभावमें रहता है अर्थात् अनशन दोषोंसे बरी हो जाता है, अरहंत अथवा सिद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है तो यही है उसकी व्यक्त कल्याणरूप अवस्था। इस अनशनस्वभावी आत्मा की सिद्धिके लिए कुछ दिनके लिए या यावज्जीव अनशनके विकल्पोंका त्याग हो, ऐसी भावना के साथ जिसने आहारका परित्याग किया है उसके अनशन तप हुआ है।

अवमौदर्य तपका भाव—इस ही प्रकार अनोदर तप भी निष्कलङ्क अन्तस्तत्त्वकी सिद्धिके प्रसंगमें होता है। अनशनस्वभावी इस आत्माकी सिद्धिका जिसे ध्यान है वह कदाचित् क्षुधाकी वेदना, असाताकी उदीरणाके कारण विधिपूर्वक आहारमें प्रवृत्त होता है, लेकिन वहाँ थोड़े आहार मात्रसे सन्तोष करके भोजन समाप्त कर बहुत खाली पेट आकर अपनी धर्मसाधना में जुट जाते हैं और कभी जान समझकर भी अवमौदर्य तप यों करते हैं कि यह भी आत्मकौतूहल देखूँ। भोजन करते हुए में लो बस हो गया, अब नहीं करना, आज इतने ग्रास ही भोजन करूँगा। अवमौदर्य तप भी एक विशिष्ट तप है। अधपेट चले आना, यह भी एक तपस्या है।

वृत्तिपरिसंख्यानादि तपका प्रयोजन—ये साधु जन अपनी दृढ़ताकी परीक्षाके लिए, कर्मनिर्जरणकी परीक्षाके लिए कभी-कभी अटपट प्रतिज्ञाएँ ले लेते हैं। ये प्रतिज्ञाएँ दूसरेको मालूम नहीं हो पाती हैं। जैसे कहीं कथावोंमें वर्णन आया है कि एक साधुने यह नियम लिया कि चर्याके समय मुझे सामनेसे एक बैल ऐसा आता हुआ दिखे जिसकी सींगमें गुड़की भेली भिदी हुई हो तब आहार लेंगे। बतावो यह कैसे बने? किसीको क्या पता? कई दिन के बाद उनकी यह विधि बन गई। किसी बैलने दूकानदारकी दूकानमें रखे हुए गुड़में मुंह लगाया तो जल्दी-जल्दीमें उस बैलकी सींगमें एक गुड़की भेली बिंध गई। देख लिया साधुने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
ऐसा दृश्य । लो उस साधुकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी । तो ऐसा तप भी कर्मनिर्जराके अर्थ होता है । इस तपसे कर्मोंकी निर्जरा होती है स्वभावकी उपासनाके कारण । यों ही सर्वतपोंका प्रयोजन चैतन्यप्रतपनकी सिद्धि है ।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ।।१४५।।

कर्मसंधुनन—जो पुरुष सम्वर भावसे सहित होकर आत्मार्थका साधक होता है, आत्माका प्रयोजन है स्वभावविकास, उसका जो साधनहारा होता है वह पुरुष निश्चयसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको जानकर सदा इस ही ज्ञायकस्वरूपका ही ध्याता रहता है । ऐसा ही पुरुष कर्मरूप धूलको उड़ा देता है । संवर नाम है शुभ और अशुभ परिणामोंका पूर्णतया निरोध होना । शुभ और अशुभ परिणाम दोनों ही आस्रवके कारण हैं, आस्रवके अत्यन्त निरोध होनेका नाम संवर है, अतः ऐसा परिणाम होना जो केवल शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही रहा करे, रंग और तरंग जहाँ उत्पन्न न हों, कषाय और योग जहाँ उद्दण्ड न हों, ऐसे उस धीर परिणामका नाम है संवर । उस संवरभावको करके जिसने वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान कर लिया है ऐसा ज्ञानी पुरुष जब परपदार्थ विषयक, प्रयोजनसे अथवा अन्य प्रयोजनोंसे अपनी बुद्धिको हटा लेता है और इस प्रकार आत्माके प्रयोजनकी साधनामें ही जिसका मन उद्यमी रहता है वह पुरुष आत्माको आत्माके ही द्वारा प्राप्त करके इस ही आत्माको अभेदरूपसे चैतन्यस्वरूपमात्र ध्यान करता है, एक अविचलित मन होकर अपनी ही इस विशुद्ध परिणतिका स्वभावमात्र अनुभव करता है उस समय यह जीव स्नेहसे अत्यन्त रहित हो जाता है, और वह कर्मरजको उड़ा देता है ।

क्लेशका कारण—जीवोंको क्लेशका कारण स्नेहभाव है । किसी भी विषयका स्नेह हो, वे सारे स्नेह दो भागोंमें विभक्त हैं । एक तो विषयसाधनाका स्नेह और एक लोकमें अपने नामका स्नेह, यशका स्नेह । अर्थात् इन्द्रिय विषयोंका स्नेह और मनोविषयका स्नेह । यों ये स्नेह ही इस जीवको क्लेशके कारण हैं । जब कभी कोई उपद्रवकी घटना होती है उस कालमें जो घबड़ाहट है वह घबड़ाहट किस बातकी है ? स्नेहके विषयभूत विषय अथवा लोकयश इन दोनोंका विघटन देखकर या विघटनकी संभावना निरखकर इसे क्लेश उत्पन्न होता है । हे आत्मन् ! अनादिकालसे इस जगत्में भ्रमण करते हुए कितने ही तो विषयोंके साधन बनाये होंगे और कितनी ही मनको बहुत दौड़ मचाई होगी, जब वे भी नहीं रहे । बड़-बड़े वैभव राजपाट और बड़े देवेन्द्र आदिकके पद वे भी जब नहीं रहे तो आजका यह तुच्छ वैभव, छोटा सा क्षेत्र और यह छोटासा समय, इसमें क्या अपना उपयोग फंसाये हो ? इतनासा ही उपयोगका फँसाव मिटा दो और सबसे न्यारे अपने आपमें अपने आपको निरखकर केवल अपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/
आपका ही आपा बन जाओ तो अनन्त कालके लिए संकट समाप्त हो जानेका उपाय पा लोगे।

क्लेशकर्मसंधुननका प्रयोग—यह आत्मा स्वयं स्वयंकी ओर झुके, स्वयंका यथार्थ-स्वरूप जाने, स्वयंमें मग्न हो तो समस्त संकट इसके समाप्त हो जाते हैं। और उस समय उत्पन्न होने वाला जो अद्भुत आनन्द है उसमें यह सामर्थ्य प्रकट होती है कि बड़ेसे बड़े तीव्र कर्मईंधनको भी यह चैतन्यप्रतपन जला देता, नष्ट कर देता। कर्मनिर्जरा कैसे होती है उसके उपायमें यह कहा जा रहा है कि रागद्वेष परिणामोंका निरोध करके केवल ज्ञायकस्वरूप निज आत्मतत्त्वको निरख। इस निर्जरा तत्त्वके प्रकरणमें कर्मनिर्जराका हेतुभूत जो यह विशुद्ध ध्यान है उस ध्यानकी मुख्यतासे दृष्टि दिलाई गयी है।

अज्ञानकृत बिगाड़—भैया! शुभ अशुभ रागादिक ही तो हैं आस्रव। इस जीवको क्लेशके कारण तो शुभराग अथवा अशुभराग हैं। होता क्या है? यह आत्मा जहाँ है, जिस प्रदेशमें है वह वहाँ है। अब वहाँसे यह उपयोग द्वारा हट करके बाहर भगना चाहता है। जहाँ इसकी ऐसी बहिर्मुखी वृत्ति होती है वहाँ ही इस जीवपर संकट आ जाता है। यह अपने इस दृढ़स्वरूपदुर्गमें रहे तो इसे कोई तकलीफ नहीं है, पर अपने स्वरूपसे हटकर ज्यों ही यह बाहरकी ओर दौड़ता है इसपर सारे संकट छा जाते हैं। पया अटकी थी इस जीवकी जो अपने स्वरूपसे च्युत होकर किन्हीं परजीवोंको, परचीजोंको यह अपना मानता है। किसी परजीवको अपना माननेसे कोई इसमें सुधार होता है, शान्ति होती हैं, सन्तोष हौता है क्या? प्रत्युत असन्तोष अशान्ति और बिगाड़ होता है। लेकिन कषायविष्ट प्राणी अपनी बिगाड़को भी नहीं देखते। जैसे क्रोधी पुरुष अपने आपकी बिगाड़को भी नहीं निरखता किन्तु क्रोधमें जो चित्तवृत्ति बन जाती है उसके माफिक अपनी प्रवृत्ति करता है, ऐसे ही संसारके सभी प्राणी जिन प्रवृत्तियोंसे इसकी बरबादी हो रही है उन्हीं प्रवृत्तियोंको यह अपनाता जा रहा है।

हेय उपादेयके निर्णयका परिणाम—जब शुभ अशुभ भावका निरोध हो तब इस जीवको कल्याणमार्ग मिलता है। ज्ञानी पुरुष हेय और उपादेय तत्त्वका भली प्रकार निर्णय रखता है। चाहे किसी परिस्थितिमें हेय तत्त्वमें भी लिपटे हों फिर भी यह हेय ही है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा रहा करती है। आत्माका जो हित है वह उपादेय है और परवस्तुविषयक प्रयोजन है अथवा परप्रयोजन है वह सब हेय है। यह ज्ञानी पुरुष परप्रयोजनसे दूर हटकर शुद्ध आत्मा का अनुभवरूप केवल निज कर्मका साधने वाला होता है। सर्व पुरुषार्थ करके एक अपने आपको ऐसे अनुभवमें लगा दो कि यह मैं आत्मा अमूर्त केवल ज्ञानानन्दप्रकाशमात्र हूं, केवल ज्ञानस्वरूप हूं—इस अनुभवसे ऐसा बल प्रकट होगा कि बड़ेसे बड़े सांसारिक बिगाड़ोंमें भी यह आकुलित न होगा। जैसे किसी दूसरे देशका बिगाड़ होनेपर इस देश वाले प्रायः विह्वल तो नहीं होते, जैसे अन्य नगर, अन्य पुरुषका, अन्य पड़ौसीका कुछ बिगाड़ होनेपर यह अन्तरमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विह्वल तो नहीं होता। ऐसे ही समझ लीजिये कि जिसके श्रद्धामें यह है कि ये तो दूसरोंकी चीजें हैं, जिस ज्ञानीके यह देह भी दूसरेकी चीज है, अन्य चीज है ऐसा स्पष्ट निर्णय है उस ज्ञानीका, इस देहके वियोगके समय, मरणके समय भी विह्वलता नहीं हो सकती है। विह्वलता तब है जब परपदार्थोंमें स्नेह लगा हुआ हो।

ज्ञानीकी निरख—यह ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंसे उपयोग हटाकर केवल एक अपने आपके स्वरूपमें उपयोगको जोड़ता है। यह समस्त आत्मप्रदेशोंमें निर्विकार नित्यानन्दरूप अपने आत्माको मानता है, रागरहित इस शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभव करता है। यह मैं आत्मा केवल प्रतिभासमात्र हूं। इस मुझ आत्माका अन्य कुछ नहीं है। यह जीव प्रकट निराला है। इसका सत्त्व, इसके बँधे हुए कर्म, इसके परिणमन मुझसे प्रकट निराले हैं। मैं इस रूप नहीं हूं, परद्रव्योंसे हटकर निर्विकल्प ध्यानके द्वारा यह ज्ञानी पुरुष निश्चल चित्त होकर इस आत्माको एक अभेद ज्ञानस्वरूप निरखता है और यह इस ज्ञानस्वरूपको निरखनेमें इतना दृढ़ है कि घोर उपसर्ग भी आ जायें, तो भी उनसे विचलित नहीं होता। कुछ-कुछ तो यहाँके लोग भी निरखे जाते हैं कि अमुकसे अमुक पुरुष अधिक अविचल चित्त है।

दृढ़ संकल्पमें साहस—कोई उद्देश्य ही ऐसा दृढ़ बनाया है ज्ञानी जीवने जिसके कारण इसका चित्त अविचल रहता है। कुछ तो निकट कालकी ही घटनायें भी सुननेमें आई हैं कि आजादीकी भावना रखने वाले कुछ क्रान्तिकारी लोगोंको कैद करके उनकी अंगुलियां भी जलाई गयीं कि तुम अपने ग्रुपका भंडाफोर करो, अमुक बात बतावो, लेकिन अंगुली जला लेना उनके लिए कष्टकारक नहीं हुआ एक अपने उद्देश्यको पूर्तिके लिए। फिर भला बतलावो जिन ज्ञानी पुरुषोंने अपना एक यही उद्देश्य बनाया है कि मैं सत्य आनन्द प्राप्त करूँ, और वह सत्य शांति मेरे स्वरूपमें स्वभावमें है, उस ही स्वभावको मैं निरखूँ, एक ही मेरा काम है कि अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप निहारता रहूं। मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसा केवल ज्ञानमात्र निहारता रहूं, यही मेरा एक काम है।

स्वरूपसंवेदनका प्रभाव—स्वरूपस्थताके काममें जो दृढ़तासे लग गए, सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार अनेक महापुरुष वे सभी कैसे अविचल चित्त थे? कैसे कठिन उपसर्ग आये, फिर भी वे स्वरूपरुचिसे चलित नहीं हुए। तो कोई बलिष्ट बात तो उनके अंदर थी ही। गजकुमारके सिरपर मिट्टीकी बाड़ लगाकर तेज आग लगा दी गई, सिर जलने लगा, मांस नीचे टपकने लगा, इतनेपर भी वे गजकुमार जरा भी विचलित नहीं हुए। तब समझ लीजिए कितना बड़ा सारभूत काम उनको करनेको पड़ा हुआ था जिसमें इतनी लीनता थी? इतना बड़ा उपसर्ग भी उनके लिए न कुछ हो गया। तो यों ज्ञानी पुरुष जब अविचल चित्त होकर,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्नेहरहित होकर शुद्ध स्फटिक स्तम्भके समान अन्तर बाह्य निर्मल रहते हैं वे ज्ञानी पुरुष कर्मधूलको उड़ा देते हैं। निर्जरा पदार्थके व्याख्यानमें निर्जराका मुख्य कारण शुद्ध आत्मा है उसका इस गाथामें वर्णन किया है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहऽहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

शुभाशुभ भावके दहनका उपाय—जिस जीवके रागद्वेष मोह और योगप्रवृत्ति नहीं है उस जीवके शुभ अशुभ भावोंको जलाने वाली ध्यानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है। पूर्व गाथामें यह बताया था कि शुभ अशुभसे रहित एक शुद्ध स्वरूपका आलम्बन कर्मोंको नष्ट कर देता है। तो यहाँ उपाय बताया है उसका कि वह उपाय कौनसा है कि जिससे शुभ और अशुभ परिणाम न रहें जीवमें। वह उपाय है शुद्ध ध्यान। यह आत्मा, यह संसारी जीव सदा किसी न किसी ध्यानमें रहा करता है और ध्यान ही करता है। एक भाव बनानेके अतिरिक्त अन्य कुछ करता ही क्या है ? ध्यान शुद्ध अन्तस्तत्त्वका बने तो शुभाशुभकर्म दूर हो जाते हैं।

बाह्यमें जीवका अकर्तृत्व—एक जीवस्वरूपको निरखकर देखो यह जीव केवल अपने स्वरूपका ही कर्ता है, अपने परिणमनका ही कर्ता है, और उपाधि सहित होनेसे एक इच्छा करता है, उस इच्छाके होनेपर जैसी सामर्थ्य है, जैसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है उस इच्छाके कारण आत्मामें योग परिस्पंद होता है और उस योग परिस्पंदके कारण शरीरकी वायुमें परिस्पंद होता है और उस वायुके परिस्पंदसे यह शरीररूपी इंजन चल बैठता है। रेलका इंजन भी तो वायुसे प्रेरित होकर चलता है। वह हवा स्टीमके रूपसे बनी है। तो जैसे अन्तर वायु से प्रेरित होकर उस इंजनके पेंच पुर्जोंके भीतर जो हवा बनती है उस हवासे प्रेरित होकर इंजनका सब मशीन ढांचा चल उठता है ऐसे ही इस शरीरमें जो अन्तर्वायु है उसका हलन-चलन होनेसे उस अनुरूप इसके हाथ, पैर, ओंठ, जीभ ये चलने लगते हैं और उनके चलनेसे जैसा जो कुछ बाह्यमें परिणमन होना है, होता है।

जीवमें भावनाका कर्तृत्व—जैसे जिह्वा आदिकके चलनेसे शब्दोंका निर्माण होता है, शरीर आदिकके चलनेसे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर तक पहुंच जाता है, ये सारी बातें हो रही हैं और बड़ी शीघ्र हो रही हैं। विलम्ब नहीं रहता। मैं इच्छा करूँ अब कि यह बोले और बोल निकले देरमें ऐसा भी नहीं है। गड़बड़ कोई बोल जाय उन समस्त बोलोंमें इच्छा बराबर नाच रही है। तब तो क्रमपूर्वक वैसे शब्द बोले जा रहे हैं। यह जीव सिवाय भावनाके, ज्ञान की इच्छाके अन्य कुछ नहीं करता। तो देखो जब भावनासे ही इतना बड़ा संसार बनाया है तो इस भावनासे ही यह संसार मिटाया भी जा सकता है। वह कौनसी भावना है, वह कौन सा ध्यान है जिससे ये संसारसंकट दूर हों ? निज शुद्धस्वरूपमें चैतन्यवृत्ति अविचलित होवे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उस हां का नाम यह ध्यान है ।

ध्यानाग्नि—जब यह जीव अनादिकालीन मिथ्यात्वकी वासनाके प्रभावसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे अनेक कामोंमें प्रवर्त रहे, इस उपयोगको संकोच करके बाह्यपदार्थोंसे कुछ हट करके जब न मोह करने वाला, न राग करने वाला, न द्वेष करने वाला इस प्रकार अपनेको निष्कषाय बनाता है, अत्यन्त शुद्ध बनाता है अर्थात् निज शुद्धस्वरूपमें अपने उपयोगको जमाता है उस समय इस जीवके शुद्ध ध्यान प्रकट होता है । वहाँ यह निष्क्रिय केवल प्रतिभासस्वरूप चैतन्यमें ही विश्रान्त हो जाता है । वहाँ मन, वचन, कायकी भावना नहीं रहती । उनके परिस्पंदका यत्न नहीं रहता और ये इन्द्रियाँ अपने कर्मोंमें उद्यत नहीं होतीं । उस समय जो ध्यान बनता है वह ऐसा उत्कृष्ट है, ऐसी अद्भुत अग्निकी तरह है जो शुभ और अशुभ सब प्रकारके कर्म ईंधनको जलानेमें समर्थ है अथवा यों कह लीजिए कि जैसे तुषारके द्वारा बड़े-बड़े वृक्ष भी जल जाया करते हैं, इसी तरह इन शान्त परिणामोंके द्वारा इस अपने आपमें अपने उपयोगको समा लेने रूप शुद्ध ध्यानके द्वारा ये शुभ अशुभ कर्म, ये संसारविषवृक्ष सब जल जाया करते हैं ।

ध्यानाग्निका प्रताप—निज शुद्धस्वरूपका ध्यान ही परमपुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है । जैसे थोड़ी भी अग्नि बहुत अधिक मात्रामें हुए तृण काष्ठकी राशिको थोड़े ही समयमें जला देती है इसी प्रकार मिथ्यात्व और कषाय आदिक विभावोंसे परे शुद्धस्वभावके ध्यानरूपी अग्नि, जो कि विभावकी परिहाररूपी वायुसे प्रज्ज्वलित हुई है ऐसी यह ध्यानाग्नि और जो कि परमानन्द रस रूपी घी से सिंचित हुई है ऐसी यह आत्मसस्वेदन रूपी ध्यानाग्नि समस्त कर्मोंको, ईंधनराशिको क्षणमात्रमें जला देती है । अग्निको हवा मिले और कुछ घी मिले तो वह अग्नि तेज ज्वलित हो जाती है, इसी प्रकार आत्मानुभवरूपी अग्निको विभावोंकी परिहार रूपी महान वायु मिली है और विशुद्ध आत्मीय आनन्दरसका घृतसिंचन हुआ है, उससे प्रज्ज्वलित हुई यह ध्यानाग्नि समस्त कर्मोंको दूर कर देती है ।

पुरुषार्थका अवसर—आजके इस कठिन समयमें भी कोई पुरुष यदि कल्याणकी विशुद्ध भावना बनाये तो आज भी योग्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे शुद्ध होकर यहाँसे इन्द्र-पद प्राप्त कर सकता है, लोकान्तिक देव बन सकता है जहाँसे चलकर मनुष्य होकर निर्वाणको प्राप्त कर सकता है । जीवनका समय थोड़ा है, आगमका विषय बहुत बड़ा है और हम आप लोग भी मंद बुद्धिके लोग हैं, ऐसी स्थितिमें हम आपको कमसे कम इतनी शिक्षा तो दृढ़तासे ग्रहण कर लेनी चाहिए जिस शिक्षापर रखी हुई वृत्ति इस जन्ममरणसे व्याप्त संसारकी जड़को काट सकती है अर्थात् वह सीधासा उपाय है । हम अपने आपको परिजनोंसे, वैभवसे, देहसे सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव किया करें, यह अन्तः श्रद्धा हमारी प्रत्येक परिस्थिति

Version 1

में बनी रहे, ऐसी प्रवृत्ति, प्रकृति और दृष्टि बने तो नियमसे अपना कल्याण होगा, इसमें सन्देहकी रंच भी बात नहीं है।

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१४७॥

यह रागी आत्मा शुभ अशुभ भावोंको जो कि प्रकट होते हैं कर्मप्रवृत्तिका निमित्त पाकर उन शुभ अशुभ भावोंके होनेपर यह जीव उस-उस प्रकारसे नाना पुद्गल कर्मोंसे बँध जाता है। इस गाथामें बंधके स्वरूपका आख्यान किया है।

अशुद्धताका कारण—यह जीव अनादिकालसे रागी चला आया है। इस रागका कारण है किसी दूसरी उपाधिका सम्बंध। किसी भी पदार्थमें उस पदार्थके स्वभावके विरुद्ध कोई काम होगा तो वहाँ नियमसे किसी परउपाधिका निमित्त होगा। किसी परउपाधिके सम्बंध बिना विपरीत कार्य नहीं होता। जीवका स्वभाव शुद्ध ज्ञातादृष्टा रहनेका है। ऐसी शुद्ध वृत्तिको छोड़कर रंग तरंगरूप जो अशुद्ध वृत्तियां होती हैं उनका कारण कोई न कोई पर-उपाधिका सम्बन्ध है। वह परउपाधि है कर्म। कर्मउपाधिके आश्रयसे अनादिकालसे रागी हुआ यह आत्मा कर्मोंके उदयके निमित्तसे जो-जो भाव उदीर्ण हुए हैं, प्रकट हुए हैं शुभ अथवा अशुभ, उन शुभ अशुभ भावोंका निमित्त पाकर यह जीव पुद्गल कर्मोंसे बँध जाता है।

त्रिविध बन्धन—इस कथनमें ३ बातोंपर दृष्टि डाली गई है। जो मोह रागद्वेषसे स्निग्ध हुआ जो शुभ अशुभ परिणाम है वह तो है जीवका भावबन्धन और उस भावबन्धनका निमित्त पाकर जो शुभ अशुभ कर्मरूप परिणत होते हैं पुद्गल स्कंध वे हैं द्रव्यबंध। और उन पुद्गल कर्मोंका जीवप्रदेशके साथ एक क्षेत्रावगाह बंधन हो जाता है उसका नाम है उभयबंध। बन्धमें इन तीन दृष्टियोंको देखिये—अब यहाँ एक और मर्मकी बात अन्वेषण करें कि जीवमें भावबन्ध हुआ। बन्धन दो का ख्याल रखकर हुआ करता है। एकमें बन्ध क्या? कोई पदार्थ एक है, अद्वैत है उसका बन्धन क्या? बंधन शब्दका अर्थ ही यह है कि दो का विशिष्ट संयोग होना सो बन्धन है। एक वस्तुका क्या बन्धन है? तब जीवमें भावबन्ध हम किस प्रकार निरखें? उभयबन्ध तो सुगम विदित है, यहाँ जीवद्रव्य है, यहाँ पुद्गलद्रव्य है, इन दोनोंका परस्परमें बन्धन हो गया, पर भावबन्ध क्या, और द्रव्यबन्ध क्या? इसके समाधानमें प्रथम तो यह निर्णय करें कि केवल एक भावद्रव्य बन्धन ही स्वयं हो ऐसा नहीं है।

तीनों बन्धनोंका योग—बंधमें तीनों बन्ध होते हैं—भावबंध भी है, द्रव्यबंध भी है, उभयबंध भी है। इनमें से किसी एकको न मानें तो तीनों भी बन्धन नहीं बँधते, पर ऐसा होते हुए भी दृष्टिकी कलासे ३ बातें विज्ञात होती हैं। अब दूसरी बातें भी देखिए—जीवका स्वभाव है शुद्ध चैतन्य। जीवका प्राण है ज्ञान और दर्शन। किसी भी प्रकार हुआ हो, अन्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उपाधिका निमित्त पाकर हुआ है, लेकिन क्या ऐसा देखा नहीं जा सकता कि हम कुछ उपाधि पर दृष्टि न दें और जो उपादान बिगड़ गया है मात्र उसको ही निरखकर निर्णय करें ऐसा किया जा सकता है ना ? किया जा सकता है ।

दृष्टान्तपूर्वक भावबन्धनका प्रदर्शन—जैसे दर्पण—उसके पीछे रहने वाले जो पदार्थ हैं उन सबका प्रतिबिम्ब आ जाता है । यद्यपि दर्पणमें वह प्रतिबिम्ब परउपाधिका निमित्त पाये बिना आया नहीं है, लेकिन हम पीठ पीछेकी उन उपाधियोंको ख्यालमें न रखकर केवल दर्पण और दर्पणमें बीत रही हुई बातोंको ही ध्यानमें रखकर कुछ निर्णय करें तो क्या कर नहीं सकते ? वहाँ यह निर्णय हो रहा है कि दर्पणका स्वभाव तो अतीव स्वच्छता है । अब देखो यहां इस दर्पणमें उस स्वच्छताका विघात करते हुए दर्पणके ही प्रदेशोंमें दर्पणके प्रतिबिम्बरूप परिणमन होता है और इस समय परिणमन और स्वच्छता—इन दोनोंका ऐसा प्रवेश है कि इस प्रतिबिम्बके कारण स्वच्छताका विघात है और देखो इस स्थितिमें स्वभावके साथ यह प्रतिबिम्ब ऐसा बँध गया है कि प्रतिबिम्बका तो आविर्भाव है और स्वच्छताका तिरोभाव है । कितना विकट बंधन है कि दोषोंका तो प्रसार है और गुणोंका तिरोभाव है । ऐसे ही कर्मोदय का निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेष मोह भाव हुआ है, ठीक है, किन्तु दृष्टिकी कला यहाँ जब हम एक निश्चय पद्धतिसे लगाते हैं, हम केवल वर्तमान परिणाम रहे इस जीवको निरख रहे हैं ।

विभावका आवरण—हम अपने उपयोगमें इस समय परउपाधिको नहीं निरखते हैं और केवल वर्तमान परिणत जीवको ही निहारें तो वहाँ हमको क्या-क्या दीखेगा ? यह जीव स्वभावतः चैतन्यस्वरूपमात्र है, किन्तु वर्तमानमें इस जीवके प्रदेशोंमें रागादिक भावोंका ऐसा प्रसार है जिस प्रसारके कारण रागादिक भावोंका तो आविर्भाव है और चैतन्यस्वभावका शुद्ध भावका स्वभाव विकासका तिरोभाव हो गया है । यह स्वभावमें विभावका ऐसा प्रवेश है विलक्षण जो स्वभावरूप न हो विभाव, फिर भी विभाव वहाँ हावी है । एक प्रसार फैला हुआ है । वहाँ स्वभावमें गुणोंका ऐसा बन्धन बन गया है, यहाँ एक ही पदार्थमें बन्धन है । वस्तुतः किसी भी पदार्थका विकल्प उस ही पदार्थकी बंधपद्धतिसे होता है, उसमें निमित्त पर उपाधि हुआ करती है । किन्तु वह उपाधि अलग खड़ी-खड़ी हँसा करती है । उस उपाधिका उपादानमें न गुणरूपसे, न पर्यायरूपसे प्रवेश है । यों जीवका यह भावबंध है । जीवका यह भावबंध निश्चयदृष्टिसे जीवके परिणमनसे हुआ है, जीवसे हुआ है, जीवके लिए हुआ है और उस बन्धनरूप परिणमनमें वह जीव स्वतंत्र कर्ता है ।

द्रव्यबन्ध—अब यहाँ द्रव्यबंधकी बात देखिये । जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप न थीं उनमें कर्मत्वपरिणमन आया, यही द्रव्यबंध है । यह द्रव्यबंध यद्यपि जीवके रागादिक विभावों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का निमित्त पाकर होता है तिसपर भी हम अपनी दृष्टिसे, निश्चयकलाकी पद्धतिसे प्रयुक्त करें तो हम उपाधिभूत परद्रव्यको न निरखें और यहाँ जो गुजर रहा है उसपर दृष्टि करें। ये कार्माणवर्गणायें ऐसी योग्यताके कारण कार्माण नाम व्यपदेशको प्राप्त होती हैं। कर्मरूप नहीं हैं। कर्मरूप होनेसे पहिले जैसे अन्य वर्गणायें विशुद्ध हैं ऐसे ही ये कार्माणवर्गणायें विशुद्ध थीं। अब क्या गुजर गया इन वर्गणावोंमें ? एक विलक्षण कर्मत्वपरिणति आ गयी, ज्ञानावरणादिक परिणति पड़ गई, उनके ठहरनेकी स्थिति बँध गई, अनुभाग आ गया। यह सब इन कर्मोंमें जो परिणमन होता है इस परिणमनरूप उस द्रव्यमें बंध हो गया। यही हुआ द्रव्य बंध।

कर्मबन्धन—अब कुछ इससे आगे और चलें तो इस जीवमें जो ज्ञानावरणादिक कर्म पहिलेसे ठहरे हुए हैं उन ज्ञानावरणादिक कर्मोंके साथ नवीन कर्मरूप परिणमे हुए द्रव्यका बन्धन हो गया है, वह मिल गया है। शरीर ५ माने गए हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। कार्माण शरीर और है क्या ? कार्माणशरीरके लक्षणमें कहीं यह भी बताया है कि कर्मोंका जो समूह है उसका नाम कार्माणशरीर है। तब कार्माण शरीर नामकर्म के उदयसे हुआ क्या ? कर्म तो बंध गये रागद्वेष मोहके कारण और वे इकट्ठे आ गए। अब कार्माणशरीर इससे अलग क्या ? तो यों समझियेगा जैसे हम कहें ईंट और भींत। भींत नाम और किस बातका है ? जो ईंटोंका समूह है उस ही का नाम भींत है। तो यहाँ बिखरी पड़ी हुई ईंटोंमें और भींतमें कुछ अन्तर है क्या ? उन ईंटोंका जम करके एक बोडी बन जाना उसका नाम भींत है। कर्म आते हैं और आनेके ही साथ कार्माणशरीरकी बोडीमें एकरस होकर शरीररूप हो जाया करते हैं। यों पहिले बँधे हुए द्रव्यकर्मके साथ नवीन बन्धन वाले द्रव्यकर्मका बन्धन होना यह भी द्रव्यबंध है और उभयबंध तो स्पष्ट है। जीवके प्रदेशोंके साथ पुद्गलकर्मका बन्धन होना एक क्षेत्रावगाह निमित्तनैमित्तिक रूप बंधन होनेका नाम है उभय-बंध। इस प्रकार बंधके स्वरूपका वर्णन करते हुए इस गाथामें मुख्य बात यह बतायी है कि आत्माके शुद्धपरिणमनसे विपरीत शुभ अशुभ परिणाम होना भावबंध है। और उन कर्मोंका कर्मत्वरूप परिणमन होना द्रव्यबंध है और जीवके प्रदेशोंके साथ कार्माणवर्गणाओंका एकमेक अन्योन्यावगाह प्रवेश और निमित्तनैमित्तिक निर्णयरूप बन्धन होना, सो उभयबंध है।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकाय संभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥१४८॥

आस्रव और बन्धका कारण—इस गाथामें बन्धके बहिरङ्ग कारणोंपर विचार किया गया है। द्रव्यकर्मका ग्रहण योगके निमित्तसे होता है। जीवके प्रदेशोंमें परिस्पंद होनेका नाम योग है और उस योगका निमित्त पाकर कर्मोंका आस्रवण होता है। यह योग मन, वचन,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
कायके परिस्पंदसे उत्पन्न होता है । यह तो बताया आस्रवकी पद्धति । इस ही प्रकरणमें जहाँ कि निमित्तनैमित्तिक भावोंका वर्णन चल रहा है किसी कारणसे क्या हुआ, वहाँ यह जानना कि मन, वचन, कायकी क्रियावोंके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें परिस्पंद हुआ और इस योगके निमित्तसे नवीन कर्मोंका कर्मत्वका आस्रवण हुआ । यहाँ तक तो आस्रवकी बात कही, अब बंध की बात सुनिये ।

बन्धमें स्थितिकी प्रमुखता—कार्माणवर्गणाओंमें कर्मत्वपरिणमन हुआ, इसके साथ ही उस कर्मका स्थितिबन्ध बन्धन हुआ कि इतने दिनों तक यह ठहरेगा । एक समयसे अधिक समय ठहरनेका नाम बन्धन है । यद्यपि वह बन्धन प्रथम समयसे ही हुआ है, पर यह बन्धन है, ऐसा जाहिरापन इस विधिसे हुआ जब यह ज्ञात हुआ कि यह एक समयसे ज्यादा भी ठहर गया । ऐसा यह बन्धन जीवके भावके निमित्तसे होता है । वह कौनसा जीवभाव है जिस जीवभावका निमित्त पाकर कर्मोंमें इस प्रकारका बन्धन हुआ करता है । वह भाव है रागद्वेष मोह युक्त आत्माका अध्यवसायपरिणाम । कर्मपुद्गलका जीवप्रदेशमें रहने वाले कर्मस्कंधोंमें प्रवेश हो जानेका नाम ग्रहण है । वह होता है योगके निमित्तसे और योग नाम है मन, वचन, कायकी क्रियावर्गणावोंका, कर्मवर्गणाओंका आलम्बन लेकर आत्मप्रदेशोंका परिस्पंद होना । मन, वचन, कायके कारण योग नहीं होते, किन्तु मन, वचन, कायकी कर्मवर्गणावोंके निमित्तसे आस्रव होता है, योग होता है ।

वर्गणा—वर्गणा एक नापका भी नाम है । उसे द्रव्यमें भी लगाओ, क्षेत्रमें भी लगाओ, कालमें भी लगाओ और भावमें भी लगाओ । जैसे कोई पिण्डरूप वस्तु सामने रखी हो तो उसमें अनेक वर्गणाएँ हैं और किसी वस्तुमें क्रिया हुई तो क्रियावोंका भी नाप वर्गणावोंसे लगा लो । तो मन, वचन, कायकी जो क्रियावर्गणायें हैं अर्थात् कर्म हैं, क्रिया हैं उनका आलम्बन लेकर जो आत्मप्रदेश परिस्पंद हुआ है उसका नाम योग है । एक वस्तुस्वातंत्र्यकी दृष्टिसे जो यह कथन हुआ करता है कि जीवमें इच्छा और ज्ञान हुआ उस इच्छा और ज्ञानकी प्रेरणा पाकर आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन हुआ और उस योगका निमित्त पाकर ओंठ, हस्त आदिक अंगोंमें क्रियाएँ हुईं, उसके बाद वचन या अन्य पदार्थोंका ग्रहण परिहार हुआ । इस कथनमें और इस प्रकरण के कथनमें कोई विरोध नहीं है । इच्छाकी प्रेरणा पाकर जो आत्मप्रदेशोंमें योग हुआ है वह मन, वचन, कायकी क्रियावोंका आलम्बन पाकर हुआ है, क्योंकि यह जीव अकेला नहीं है इस प्रसंगमें । जो जितना मन, वचन, कायका आलम्बन पाकर यह योग हुआ है इस योगसे जो शरीरमें वायु चली कि शरीरकी क्रियायें हुईं वे वायु और क्रियाएँ जुदी चीज हैं ।

क्रियावर्गणा—क्रियावर्गणा व योगके प्रसंगमें कुछ ऐसा भी समझिये जैसा कि ध्वनि निकलती है तो ध्वनि निकलनेमें २ प्रकारकी वर्गणावोंमें सम्बंध होता है—एक महास्कंध

Version 1

और एक भाषावर्गणास्कंध। जीभ, ओंठ, दांत, तालुके टक्करसे शब्द प्रकट नहीं हुआ है, किन्तु यह तो है महास्कंध, जो पकड़नेमें आता है, दिखनेमें आता है, इन महास्कंधोंका तो संघट्टन हुआ और उनके-उनके संघट्टनका निमित्त पाकर जो भाषावर्गणाके स्कंध हैं, जो आँखों नहीं दिखते, पकड़में नहीं आ रहे उन भाषावर्गणाके स्कंधोंसे शब्द ध्वनि निकली है, इन ओंठों से नहीं। यहाँ यह समझिये कि इच्छाकी प्रेरणा पाकर मन, वचन, कायका आलम्बनपूर्वक योग होता है। अब इस योगसे योगके माफिक इस इच्छाके अनुकूल शरीरमें वायुका स्पंद हुआ, उससे अंग चले, अथवा एक पद्धतिभेदसे जुदे-जुदे भी भावदृष्टिमें ला सकते हैं। यह है योग। इससे तो कर्मोंका आस्रवण होता है।

बन्धविधान व उसकी प्रतिक्रिया—अब बंध जो होता है वह किस विधानसे होता है ? इसे सुनिये। कर्मपुद्गलका विशिष्ट शक्तिरूप परिणमनसे ठहर जाना ऐसा जो बंध होता है वह जीवभावके निमित्तसे होता है। वह जीवभाव क्या है ? जीवके शुद्ध चैतन्यप्रकाशके परिणमनसे विपरीत ये कषाय मिथ्यात्व आदिक परिणमन हैं। इन परिणमनोंके निमित्तसे कर्मोंका बंध हुआ है। मोहनीय कर्मके उदयसे जो विकार जगता है वह विकार कर्मबन्धका कारण है। यहाँ यह बात समझना कि पुद्गलके ग्रहणका कारण होनेसे योग तो बहिरङ्ग कारण है इस बंधमें और विशिष्ट शक्ति, विशेष स्थिति जो उन वर्गणावोंमें पड़ी है उसका कारण है कषायभाव, जीवभाव। वह जीवभाव अन्तरङ्ग कारण है। वह बंध नामक हेय तत्त्वकी व्याख्या चल रही है। हम आपपर यह बंधकी विपदा पड़ी हुई है। इस जीवनकी काल्पनिक विपदावोंको छेदनेमें ही अपने उपयोगको लगा दें तो बुद्धिमान नहीं है। सब विपदावोंका कारणभूत जो यह कर्मत्वकी विपदा है उसके छेदनेका यत्न करना चाहिए। वह यत्न है आत्मस्वरूपकी दृष्टि। जैसा अपना स्वरूप है वैसा अपनेको मानना, उस ही में रमना यह है बंधके विनाशकी पद्धति। इसका हम यत्न करें और इसके लिए वस्तुस्वरूपका ज्ञान करें, ज्ञानार्जन करें तो इस ही उपायसे हमें सब उपाय बनाना आसान हो जायगा।

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१४६॥

कर्मबन्धव्यवस्था—आठ प्रकारके कर्मोंके बंधका कारण चार प्रकारका द्रव्यप्रत्यय है और उन चार प्रकारके द्रव्य प्रत्ययोंका भी कारण रागादिक विभाव हैं। उन रागादिक विभाव भावोंके अभाव होनेपर फिर कर्म नहीं बँधते। ऐसी प्रसिद्धि है कि कर्मबन्धका कारण जीवके रागादिक भाव हैं। यह एक सुगम कथन है। वस्तुतः वहाँ बात क्या होती है कि नवीन कर्मबन्धका कारण उदयमें आये हुए कर्म हैं, रागादिक नहीं हैं, और उदयमें आये हुए कर्मोंमें नवीन कर्मबंधनका निमित्तपना आ जाय, इसमें निमित्त हैं रगादिक भाव। इसी कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
सीधा कथन प्रसिद्ध हो गया कि रागादिक भावोंके कारण कर्मबन्ध होता है। इस कथनमें अनेक मर्म पड़े हुए हैं। प्रथम तो मूर्तिक पुद्गल कर्मोंके बन्धका कारण सीधा कुछ मूर्तिक पदार्थ होना चाहिए। इसकी पुष्टि इसमें हो जाती है तथा इसका भी समर्थन इस पद्धतिमें हो जाता है कि उदयमें आये हुए द्रव्य कर्ममें नवीन कर्मबन्धका निमित्तपना आये तभी ना कर्म बँधेगा, तो ऐसा निमित्तपना आनेमें कारण हैं रागादिक भाव। तब यह संभावना की जा सकती है कि कभी ऐसी स्थिति आ जाये कि द्रव्यकर्म तो उदयमें आ रहे हैं और रागादिक भावोंका सहयोग न मिले तो वे द्रव्यप्रत्यय बंधके कारण नहीं हैं।

रागादिके अभावमें द्रव्यप्रत्ययकी बन्धाहेतुता—अब इस प्रसंगमें इस बातपर विचार करना है कि क्या ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि द्रव्यकर्म तो उदयमें हों और रागादिक भाव न होते हों? ऐसी स्थितिकी सम्भावना एक दो स्थलोंमें हो सकती है। जैसे दशम गुणस्थानमें द्रव्य मोहनीयकर्मका उदय है, संज्वलन सूक्ष्म लोभका उदय है, पर मोह बंधके योग्य रागादिक भाव नहीं हैं। इस कारणसे वहाँ मोहनीय कर्मका बन्ध नहीं होता। दूसरी स्थिति विचारिये। कभी निषेकोंके क्रममें ऐसा निषेक पुञ्ज आ जाय जिसका अनुभाग मंद हो और उस उदयागत कर्मका आश्रयभूत नोकर्मका समागम न मिले तथा यह ज्ञानी जीव अपनी उस समयकी योग्यताके पुरुषार्थसे कुछ आत्मचिन्तनकी ओर लगे तो ऐसी स्थितिमें जहाँ कि ये दो-चार बातें हुई हैं, उदयागत द्रव्य प्रत्ययमें निमित्तपनाका निमित्त न आयगा कुछ इस विषयको समझनेके लिए एक दृष्टान्त लें।

बन्धहेतुहेतुत्वका स्पष्टीकरण—जैसे किसी मालिकके साथ कुत्ता भी जा रहा है, सामनेसे कोई एक विरोधी पुरुष आये तो मालिकने कुत्तेको सैन दी, छू, और उस कुत्तेने उस पुरुषपर आक्रमण कर दिया। मालिककी बुद्धिके सामने कुत्तेमें तो कोई बुद्धि नहीं है। तो ऐसा अबुद्ध कुत्ता उस विरोधीके संघर्षमें आया है, किन्तु उस कुत्तेमें संघर्ष करनेका बल आ जाय इसका कारण मालिककी सैन है। यों ही इस रागी जीवके साथ प्रदेशोंमें कर्मोंका उदय चल रहा है, उदयागत इन कर्मोंका साक्षात् संघर्ष नवीन कर्मोंके साथ होता है बन्धनके लिए, किन्तु उदयागत द्रव्यकर्ममें ऐसा बंध निमित्तपना आये उसके लिए सैन मिली है इस रागी जीवकी विकारपरिणतिकी। इस रागी जीवके रागकी सैनको पाकर उदयागत द्रव्यकर्मोंमें नवीनकर्मबन्धका कारणपना आया। बात बहुत सूक्ष्म है यह यथार्थ निमित्तनैमित्तिकपना बतलानेके प्रसंगमें।

आस्रवोंकी चतुर्विकल्पता—अन्य सिद्धान्त ग्रन्थोंमें अष्टकर्मोंके बंधके हेतुभूत चार प्रकारके भाव कहे गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इस मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगको आप दो भेदोंमें रख लीजिए। द्रव्यमिथ्यात्व, भावमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति,
Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/
भावअविरति, द्रव्यकषाय, भावकषाय, द्रव्ययोग, भावयोग। जो इन चार प्रकारके जीवोंमें हरकतोंका कारणभूत कर्म है वह तो है द्रव्यमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति, द्रव्यकषाय और द्रव्ययोग। और जीवमें जो इस प्रकारका परिणमन हो रहा है वह है भावमिथ्यात्व, भावअविरति, भावकषाय और भावयोग। तो कर्मबन्धके कारणभूत वे चार द्रव्यभूत प्रत्यय हैं, उनमें बन्धहेतुता आ जाय उसका हेतु है जीवके परिणमन रूप रागादिक भाव। क्योंकि रागादिक भावों का अभाव होनेपर द्रव्यमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति, द्रव्यकषाय और द्रव्ययोगका सद्भाव होनेपर भी जीव बँधते नहीं हैं। इसका एक अर्थ तो अभी बताया ही है। दूसरी बात यह समझो कि सत्तामें पड़े हुए ये द्रव्यकर्म हैं, सद्भाव तो इनका है, पर उस-उस योग्य इस समय रागादिक भाव नहीं हैं, इसलिए जीव बँधता नहीं है।

द्रव्यप्रत्ययमें बन्धहेतुताका काल—इस सम्बन्धमें समयसारमें एक दृष्टान्त दिया है। किसी बड़ी उम्रवाले पुरुषका अत्यन्त कम उमर वाली बालिकाके साथ विवाह हो जाय, जैसे बहुत पहिले उद्दण्डता चलती थी, तो वह छोटी बालिका बन्धके योग्य नहीं है क्योंकि उस बालिकामें अभी विकारोंका सद्भाव नहीं आया। समय पाकर राग विकार आ जाय, उस समयमें ये पुरुष और स्त्री बंध जाते हैं। ऐसे ही बन्धन तो हो गया कर्मका, पर अपनी उमर पर जब तक ये कर्म विपाकमें न आयें, जब तक ये कर्म अपनी आखिरी स्थितिपर न आयें तब तक ये बन्धनके कारण नहीं बनते, यों ही पड़े रहते हैं। जब ये कर्म अपनी स्थितिपर आते हैं, उदयको प्राप्त होते हैं तब कर्मबन्धके कारण होते हैं।

बन्धप्रसंगमें रागादिकी अन्तरङ्गहेतुता—इस कथनमें सारभूत बात यह लेनी कि निश्चयसे बन्धनका अन्तरङ्ग कारण तो रागादिक भाव हैं, किसी तरहसे सही। चाहे सीधी नाक पकड़ो और चाहे एक तरहका प्राणायामसा हो तो पीछेसे हाथ डाल कर नाक पकड़ो, पकड़ी गई नाक ही। चाहे उसे सुगम सिद्धान्तमें बतायी गई पद्धतिसे कहो और चाहे सूक्ष्म विश्लेषण करके कहो, फल यह निकला कि रागादिक भाव हों तो जीवको बन्धन है, रागादिक न हों तो जीवका बन्धन नहीं होता।

गुणस्थानोंमें प्रत्ययविभाजन—बंधके कारण जो ये चार उपाय कहे हैं उनमें से मिथ्यात्व तो केवल पहिले गुणस्थानमें है, अविरति पहिले गुणस्थानसे लेकर चतुर्थगुणस्थान तक है और कषाय पहिले गुणस्थानसे लेकर दसम गुणस्थान तक है और योग पहिले गुणस्थानसे लेकर १३ वें गुणस्थान तक है। पंचमगुणस्थानमें अविरतिभाव नहीं है, किन्तु संयमासंयम है। इस कारण अविरतिभाव चतुर्थ गुणस्थान तक ही समझना है। यों इस गुणस्थान में इन-इन प्रसंगोंके कारण अपनी-अपनी योग्यतानुसार बन्धन होता रहता है। बंध पदार्थका यहाँ व्याख्यान समाप्त हुआ, अब मोक्षपदार्थका व्याख्यान किया जा रहा है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥१५०॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य ।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ॥१५१॥

भावमोक्षपद्धति—मोक्षका परम उपाय है संवर, इसलिए मोक्षकी व्याख्या संवरसे ही शुरू की जाती है। जब आस्रवके कारणभूत जीवके मोह रागद्वेष रूप हेतु नहीं रहे अथवा रागद्वेषका निमित्त पाकर निमित्त बनने योग्य उदयागत द्रव्यकर्म नहीं रहे तो ज्ञानीके रागादिक आस्रवोंका निरोध हो जाता है और जब भावास्रव नहीं रहे तो मोहनीय आदिक चारघातिया कर्मोंका भी निरोध हो जाता है। जब घातिया कर्मोंका अभाव हो गया तब यह जीव सर्वज्ञ हो जाता है, सर्वदर्शी हो जाता है, अव्याबाध अनन्त सुखको प्राप्त करता है। जहाँ इन्द्रियोंके व्यापारका सम्बन्ध नहीं है, यही है भावमोक्ष। इस ही का नाम है जीवन्मुक्ति।

भावमोक्षका विवरण—अरहंत परमात्माके यह भावमोक्ष प्रकट हो गया है अर्थात् भावोंसे छुट्टी मिल गई है। किन भावोंसे मुक्ति हो गई है? कर्मोंके आवरणसे आवृत्त इस चेतनके जो यह भाव निरन्तर बना रहता था ज्ञप्तिपरिवर्तनका भाव, क्रवसे प्रवर्तमान ज्ञप्तिकी क्रियाका जो चंक्रमणरूप भाव रहा करता था वह भाव संसारी जीवकी अनादि मोहनीय कर्मके बलसे अशुद्ध था और द्रव्यकर्मके आस्रवणका कारण था वह ज्ञानी जीवके समाप्त हो गया है। इस प्रसंगमें भी एक नवीन चर्चा आयी है। जाननका प्रवर्तन होता रहना यह भाव संसारी जीवके क्लेशका कारण है। इसमें रागद्वेष मोह सब बातें आ गयीं, पर कहा यों जा रहा है आत्माके निकट होकर, आत्मा क्या कर रहा है जिससे यह बखेड़ा बना है? यह अपनी ज्ञप्तिक्रियाका विसदृश प्रवर्तन करता जा रहा है। जैसे जिस मनुष्यको चैन नहीं है वह कभी यहाँ बैठता, देर तक नहीं बैठ सकता, उठकर दूसरी जगह बैठता, कई जगहोंमें उछल कूद करता रहता है। ऐसे ही जब तक इस जीवको चैन नहीं है तब तक यह अपने जाननरूप कार्यमें उछल-कूद चंक्रमण करता रहता है। और यह ज्ञप्ति परिवर्तनरूप क्रिया पृथक्त्ववितर्क-वीचार नामक शुक्लध्यान तक चलती है, कहीं टिकाव नहीं होता। ऐसा आत्मबल नहीं प्रकट हुआ कि ज्ञप्तिपरिवर्तनको रोक दे। यदि यह जीव ज्ञप्तिपरिवर्तनको रोक देगा तो इसके बाद नियमसे केवलज्ञान ही प्रकट होगा। तो ऐसा जो भाव इस जीवके अनादिकालसे चला आ रहा था उस भावसे मुक्ति मिली है अब केवलज्ञान अवस्थामें।

किस भावसे छुटकारा—देखिये बात सीधी-सादी है, पर विश्लेषण सहित बात कही जाय तो वह एक नई बात, नई चर्चा बनती है। जैसे पहिले बताया था कि रागादिक भावोंके कारण कर्मबन्ध होता है यह बात एक सुगम है, उसके विश्लेषणमें एक नई बात मिली थी,

Version 1

ऐसे ही यह कहा कि रागद्वेष मोह भावोंसे छुटकारा होनेका नाम भावमोक्ष है। यह बात सुगम है, पर यहाँ और भी अंतः प्रवेश करके देखो तो जीवमें जो यह दुर्बलता पड़ी है कि यह सदृश ज्ञान, स्थिर सही ज्ञान नहीं कर पा रहा है और अपने जाननके काममें अनेक परिवर्तन बनाये हुए है, टिकाव नहीं है, ऐसी ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप जो जीवका भाव है उस भावसे अब मुक्ति मिली है, यही है जीवका भावमोक्ष।

संसरणका निजी अन्तरङ्ग हेतु—यह ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप भाव रागद्वेष मोहकी प्रवीणताके साथ-साथ नष्ट होता है। जब यह आस्रवभाव दूर हो जाता है तो जब आस्रवभाव ही नहीं रहा तो मोहका अत्यन्त क्षय होनेसे अत्यन्त निर्विकार चैतन्यस्वरूपके आलम्बनके प्रसाद से अब ये भावकर्म दूर हो गए हैं। जीवका भावकर्म क्या है ? मोटे रूपसे यह बताया है राग द्वेष मोह ये भावकर्म हैं। ये तो कुछ भिन्न और पररूप मालूम हो रहे हैं। जीवमें निजी कला क्या है और उस निजी कलासे सम्बंधित भावकर्म क्या है—इसपर दृष्टि डालें तो मालूम पड़ेगा आपको भावरूप यह कर्म कि जाननरूप क्रियामें कर्मकी परिणति होना यही है इसका भावकर्म। अरे अभी इसे जान रहे, सब कुछ जाननेमें नहीं आ रहा। अब इसका जानना छोड़ा अब इसको जानने लगे। जानना छोड़-छोड़कर नई-नई बात जानते हैं यही है जीवका भावकर्म। जैसे कोटमें जेब लोग लगाते हैं, बास्कटमें जेब लगाते हैं, कोई जेब बाहरकी है, कोई भीतरकी है और कोई जेब अत्यन्त गुप्त है। हैं वे उस बास्कटकी ही जेबें। ऐसे ही जीवमें ये सब भावकर्म हैं। हैं वे। रागद्वेष मोह भावकर्म हैं। ये बहिरङ्ग दृष्टिसे जीवके अन्तः भावकर्म हैं और ज्ञप्तिक्रियामें परिवर्तन होना इसमें जो कुछ अन्तः श्रम हो रहा है वह है इसका अन्तरङ्गदृष्टिसे भावकर्म।

भावमोक्षमें विकासका रूप—अनादि कालसे जो अनन्त चैतन्यस्वरूप आत्मवीर्य दबा हुआ था अब शुद्ध तत्त्वकी जानकारी रूप क्रियाके द्वारा उस दुर्बलताको अन्तर्मुहूर्तमें खतम होकर, एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होते ही इस ज्ञानमें कथंचित् कूटस्थता आ जाती है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखो तो केवल ज्ञानके समयमें भी प्रति समयका केवलज्ञान परिणमन जुदा-जुदा है, लेकिन वह जुदा क्या ? जो ज्ञान पहिले जिसे जानता था, सभी ज्ञान, सभी केवलज्ञान प्रति समय ठीक वैसाका ही वैसा जानते हैं, न कुछ कम, न कुछ ज्यादा तो वहाँ परिवर्तन क्या मालूम होगा ? विषयकी दृष्टिसे केवलज्ञान कूटस्थ है और जीवमें प्रतिसमयका वह परिणमन चल रहा है इस दृष्टिसे प्रतिसमयका परिणमन जुदा-जुदा है। ऐसा यह केवलज्ञान कूटस्थताको प्राप्त होता हुआ प्रकट हो रहा है। अब ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप भावकर्म नष्ट हो गए हैं। अब प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी हुए, इन्द्रिय व्यापारोंसे रहित हुए, निर्बाध अनन्त सुखमय हुए। इस प्रकार भावकर्ममोक्षकी पद्धति बताई, द्रव्यकर्मसे मुक्तिका कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बताया और परमसम्वरके परमउपकारका वर्णन किया।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥

निर्जराका हेतु—द्रव्यकर्मोंसे इस जीवको जिस उपायसे मुक्ति मिलती है वह उपाय अभी निकट पूर्वमें परमनिर्जरा तत्त्व बताया है। उस विशुद्ध निर्जराका कारण क्या है, उसका आख्यान इस गाथामें किया गया है। द्रव्यकर्मसे मुक्ति मिले, इसके उपायमें होने वाली निर्जरा का कारण ध्यान है, जिसमें दर्शन और ज्ञानकी समग्रता है, जहाँ परद्रव्योंकी चिन्ताका निरोध है ऐसा यह ध्यान निर्जराका कारण होता है। यह ध्यान किसके होता है? आत्मस्वभावके उपयोगमें रत रहने वाले साधु पुरुषके यह ध्यान होता है। इस ध्यानमें परद्रव्योंका सम्बंध नहीं है। जब यह भवयुक्त भगवान केवली अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब निजस्वरूपमें अपने आपके सहज विश्रामके कारण अद्भुत आनन्द जगता है। उस आनन्दके प्रतापसे कर्मकलङ्कोंका संधुनन हो जाता है।

आनन्दका धाम—इस लोकमें अन्यत्र आनन्दका नाम भी नहीं है। मोहके वश होकर यह जीव बाह्यपदार्थोंके सम्पर्कमें आनन्दकी कल्पनाएँ करता है। आत्मस्वभावका स्पर्श हुए बिना जीवको निरन्तर क्षोभ ही क्षोभ रहा करता है। कोई क्षोभ हर्ष रूपमें प्रकट होता है, कोई क्षोभ विषादरूपमें प्रकट होता है। स्वरूप दृष्टिमें ही वास्तविक आनन्द है। जहाँ पर सुख और दुःख कर्मविधानसे होने वाले नाना विभावोंका अभाव हो गया है, ऐसी उत्कृष्ट स्थितिमें वह परम आनन्द प्रकट होता है, जिस आनन्दके बलसे समस्त आवरणोंको प्रक्षीण कर दिया जाता है। तब यह भगवान केवली अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अर्थात् सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञानचेतनास्वरूप हो जाते हैं। अतीन्द्रिय होनेके कारण अन्य द्रव्योंके संयोगसे रहित उनका केवल स्वरूप विश्रामरूप परिणमन रहता है।

उत्तरोत्तर विकास—सम्यक्त्व उत्पन्न होनेसे पहिले और होनेके बादसे १४वें गुणस्थान पर्यन्त ज्ञानी जीवोंमें अपने-अपने पदमें अपने-अपने योग्य ध्यानसे परिणमते रहते हैं। प्रथम तो सम्यक्त्व जगनेके निकट कालमें ऐसा विशुद्ध ध्यान होता है जिससे कर्मोंका बोझ इतना दूर हो जाता है कि पहिलेके मुकाबलेमें अब एक दो प्रतिशत भी कर्मभार नहीं रहता है। अनन्त संसार जहाँ कट जाता है, ऐसे सम्यक्त्व परिणाममें बहुत निर्जरा चलती है। उसके पश्चात् जैसे-जैसे ज्ञानी जीवकी अंतःस्थिति उच्च होती जाती है इसके ध्यानका बल और बढ़ता जाता है। १०वें गुणस्थानके अन्त तक समस्त मोहनीय कर्मोंका क्षय हो जाता है। अब क्षीण मोह होकर यह एकत्ववितर्कशुक्लध्यानके बलसे ज्ञानावरणादिक शेष तीन घातिया कर्मोंका भी क्षय कर देता है। अब शुद्धस्वरूपमें अविचलित चैतन्यवृत्ति बन गई है। ज्ञप्तिपरिवर्तनका काम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अब नहीं रहा। द्वितीय शुक्लध्यानमें जिस पदार्थको जान रहे थे उस ही पदार्थको निरन्तर जान रहे हैं और उस ही स्थितिमें सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है तो सर्वज्ञता प्रकट होनेसे कहीं पहिलेका ज्ञान नष्ट नहीं हो गया। वह अब प्रत्यक्षरूपसे ज्ञात है और शेष सभी पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञात हो जाते हैं। १३वें गुणस्थानमें स्वरूपसे चूंकि वे चलित नहीं हो रहे, अतएव उनको ध्यान उपचारसे कहते हैं। वस्तुतः वे ध्यानका फल पा चुके हैं, उनके भी पूर्व बँधे हुए कर्मोंका अनुभाग खंडित देखा जाता है, इस कारण उस ध्यानको भी निर्जराका कारण कहा गया है।

वीतरागमूर्ति—भावमुक्तकेवली जीवन्मुक्तकेवली भगवान अरहंत देवके निर्विकार परम आनन्दरूप आत्माकी उपलब्धिसे जो आनन्द हुआ है उसमें ही ये तृप्त रहते हैं। हर्ष-विषाद आदिक सांसारिक विक्रियाएँ अब अरहंत प्रभुके नहीं हैं। यहाँ हम आप किसी पुरुषका कितना स्वागत कर सकते हैं, किसी पुरुषका हम कितना समारोह मना सकते हैं, जितना भी अधिकसे अधिक स्वागत समारोह किया जा सकता हो उससे कई गुणा स्वागत समारोह अरहंत भगवानका यहाँ किया जाता है। समवशरण जैसी अनुपम रचना, देवेन्द्र देवादिकके द्वारा सारा प्रबंध होना, इतने बड़े समारोहके बीच रहने वाले अरहंत प्रभु वैभवसे कितने पृथक् हैं, और तो बात क्या, उनके बैठनेके लिए स्वर्ण कमलके ऊपर जो एक अनुपम कान्तिमान सिंहासन रखा जाता है उससे भी ४ अंगुल ऊँचे अरहंत भगवान विराजे रहते हैं, और यह इन्द्र कुबेर भक्तिवश होकर भगवानके सिरके ऊपर छत्र लगाते हैं अथवा यों कहो यह लक्ष्मी प्रभुकी सेवा करनेके लिए जब यह नीचेसे असफल हो गयी अर्थात् सिंहासनसे भी चार अंगुल ऊँचे भगवान चले गए तो यह भगवानके ऊपरसे गिरती हैं छत्रके रूपमें कि अब हम भगवानको छू लें, लेकिन वह छत्र भी उनसे अधर ही रहा करता है। कितनी वहाँ शोभा की जाती है।

पुष्पवृष्टि और चमरका सन्देश—समवशरणमें प्रभु अरहंत देवके निकट ऊपरसे देवतागण फूलोंकी वर्षा करते हैं। वह पुष्पवर्षा भी एक अद्भुत समा बाँध देती है। उनके गिराये हुए फूल भी दुनियाको उपदेश दिया करते हैं अपनी मुद्रा द्वारा। देखो जब फूल ऊपरसे छोड़ा जाता है तो फूलका कोमल हिस्सा पंखुड़ियां, विकसितस्थान नीचे रहता है और ऊपर डंठल रहती है। डंठलका नाम बंधन है। ऊपर बंधन रहता है नीचे विकसित भाग रहता है। प्रभुके चरणोंके निकट पहुंचकर फूल किस तरह गिरते हैं कि नीचे तो बन्धन हो जाता है, क्योंकि बहुत ऊपरसे फूल छोड़नेपर वजनदार हिस्सा नीचेको हो जायगा, नीचे बन्धन आ जाता है, ऊपर विकसित भाग रह जाता है। यह फूल दुनियाको यह उपदेश करता है कि जो भगवानके चरणोंमें आयगा, उसका बन्धन तो नीचे हो जायगा और उसका विकास ऊपर हो जायगा। ६४ यक्ष चमर ढोलते हैं। ये भक्तिसे ढोरे हुए चमर भी दुनियाको उपदेश दे रहे हैं कि जो भगवानके चरणोंमें नम्रीभूत होगा वह नियमसे ऊपर उठ जायगा। चमर भी नीचेसे ऊपर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org
उठा करता है, जहाँका अणु-अणु वातावरण भव्य जीवोंको शिवपथगमनके लिए प्रेरित करता है। ऐसी अद्भुत विभूति भी अरहंत भगवानके उपयोगको रंच भी व्यग्र नहीं कर सकती। ऐसी अविचलित चित्तवृत्ति अरहंत प्रभुके हुई है।

अर्हद्ध्यान—अर्हद्भक्तिकी बात इसलिए विशेषतया कही जा रही है कि सिद्ध भगवानके लिए रागका अवसर क्या ? वे तो एकदम अलग पहुंच गए हैं, और ये अरहंत प्रभु हम आप सरीखे हाथ-पैर वाले हैं और हम आप लोगोंके बीचमें विराजमान रहते हैं, विहार करते हैं। इतने निकट हैं वे तिसपर भी अत्यंत वीतराग हैं। प्रभुका स्वरूप पूर्ण वीतरागता है। जो बातचीत करे किसीसे, किसीको सुखी दुःखी करे, किसीकी सम्मतिमें गोष्ठीमें आया करे वह कैसे भगवान है ? भगवान तो उत्कृष्ट वीतराग हुआ करते हैं। उनका चैतन्यप्रवर्तन उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शनसे युक्त है, सहज शुद्ध चैतन्यमें परिणत है, इन्द्रियव्यापार आदिक बहिर्द्रव्यों के आलम्बनसे रहित है। स्वरूप निश्चल होनेसे उनकी वे क्रियाएँ अब भी चल रही हैं जो पहिले उत्कृष्ट ध्यानके बलसे चला करती थीं। भावमन न होकर भी सयोगकेवली भगवानके पूर्वबद्ध कर्मोंका अनुभागखण्डन स्थितिखण्डन वे सब बराबर चल रहे हैं, अतएव उनका ध्यान उपचारसे कहा गया है। यह ध्यान परद्रव्योंके आलम्बनसे रहित है।

विराग विज्ञान—यहाँ एक आशंका की गयी है कि छद्मस्थ, तपस्वीजन अथवा श्रेणी में रहने वाले साधु जन वे आत्मा आत्माका ही ध्यान नहीं किया करते हैं, उनके ज्ञानमें कुछ भी आये उस ही के ध्यानसे कर्मोंका विनाश होता है। परद्रव्योंका ख्याल मत करें, केवल आत्माका ही ध्यान करें ऐसी पद्धति उसके लिए है जिसमें ऐसी प्रकृति पड़ी है कि वह रागवश होकर परद्रव्योंका ख्याल किया करे। जिन योगी पुरुषोंके यह प्रमत्तभाव नहीं रहा उनके लिए तो यह उपदेश नहीं है कि उनका भी विचार करें। रागरहित वृत्ति होनेके कारण उनके तो ध्यान बराबर बना रहता है और कर्मनिर्जराका कारण होता है। जैसे लोकमें नई बहूपर ही तो प्रतिबन्ध रहता है कि तुम दूसरेके घर न जाया करो, न बैठा करो, पर बुढ़ियोंके लिए तो कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता। ऐसे ही समझो कि जब तक राग विकार प्रमादकी योग्यता है तब ही तक तो यह प्रतिबन्ध है कि तुम अन्य पदार्थोंका ध्यान मत करो। एक आत्मस्वरूप का ध्यान करो, किन्तु जिसकी चैतन्यवृत्ति इतनी उज्ज्वल है कि वह रागवश न रहे उनके लिए कुछ भी ध्यानमें आये, परमाणुका, आत्माका किसीका भी ध्यान करते हुए वीतरागस्वभावके कारण कर्मनिर्जरा कर रहे हैं। वे परद्रव्योंका ध्यान करते हुए कैसी निर्जरा कर डालते हैं, ऐसी यहाँ एक आशंका की गई है, इसका समाधान सीधा तो यह स्पष्ट है कि उनमें राग-द्वेष परिणतिका अनुभव नहीं रहा, रागद्वेष परिणति नहीं रही तब कुछ भी ज्ञानमें आये, वह ज्ञान एक विशुद्ध ज्ञान है, और रागद्वेष रहित विशुद्ध ज्ञानमें यह सामर्थ्य है कि वहाँ कर्म ठहर
Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं सकते ।

परमाणुके ध्यानका भाव—दूसरी बात यों सोचिये कि जहाँ यह कहा गया है कि वह परमाणुका भी ध्यान करे तो भी निर्जरा करता है । तो परमाणुका अर्थ है परम अणु, अत्यन्त सूक्ष्म चीज । वह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु क्या है ? शुद्ध आत्माका तत्त्व । यह ज्ञानी पुरुष पर अणुका भी विकल्प ध्यान हो रहा हो उसे भी इस विधिसे जानता है कि इस परम आत्म-अणुका स्पर्श नहीं छूटता । वहाँ भी यह पुरुष आत्मस्पर्शमें रहा करता है । ऐसे इस वीतराग निर्विकल्प समाधिके ध्यानके प्रतापसे कर्मनिर्जरा होती है और उस निर्जराके फलमें मोक्ष प्राप्त होता है । यह आत्मा आत्माको आत्मामें आत्माके द्वारा क्षणमात्र भी धारण करता हुआ यह स्वयंभू हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है । यह द्रव्यकर्मसे मुक्ति पानेके कारणभूत निर्जराके कारणका वर्णन किया है । अब इस अन्तिम गाथामें द्रव्यमोक्षका स्वरूप बतला रहे हैं ।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ।।१५३।।

अघातिया कर्मोंके अभावकी पद्धति—जो सम्बर भावसे सहित होता हुआ, सर्वकर्मों की निर्जरा करता हुआ वेदनीय आयु नामकर्मसे रहित होकर नाम और गोत्र नामक भवको त्याग देता है उसका उस कारणसे मोक्ष होता है । जब चार घातिया कर्मोंका भी विनाश हो जाता है तो इसकी सम्पूर्णतया कर्मोंसे मुक्ति हो जाती है, सिद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है । केवली भगवानके प्रायः उस समय कर्मोंकी ऐसी स्थिति रहती है कि आयुकर्म तो रहता है अल्प और वेदनीय नाम गोत्र इन तीन कर्मोंकी स्थिति रहती है अधिक । जब मोक्ष होगा तो चार घातिया कर्मोंका एक साथ एक ही समयमें क्षय होगा तब मोक्ष होगा । तो यह बात कैसे बने ? यह बात समुद्घातसे बनती है ।

केवलिसमुद्घातमें निर्जरणकी विशेषता—भगवान सयोगकेवलीके अन्तिम अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें जिसमें अनेक अन्तर्मुहूर्त पड़े हुए हैं उनमें पहिलेके अन्तर्मुहूर्तमें इसका समुद्घात प्रकट होता है । पहिले दंडाकार प्रदेश बनता है, फिर कपाटाकार फैलता है, फिर प्रतर बन जाता है और फिर लोकभरमें प्रत्येक प्रदेशपर उसमेंसे एक-एक प्रदेश ठहर जाता है, फिर प्रतर कपाट दंड होकर शरीरमें प्रवेश होता है । ऐसे फैलावमें कर्मोंका फैलाव हो जाता है और वह फैलकर निर्जीर्ण हो जाता है । थोड़ा बहुत अन्तर रहता है वह समुद्घातके बाद समाप्त हो जाता है । यों भगवान जब समुद्घात कर चुकते हैं उसके बाद सूक्ष्म क्रिया प्रति-पाती शुक्लध्यान प्रकट होता है । सूक्ष्मकाय योगके विनाश करनेके लिए यह ज्ञान हुआ, परम यथाख्यात चारित्र हुआ, उसके बलसे इसका योग नष्ट हो जाता है ।

अयोगकेवली गुणस्थानके अंतमें सर्वकर्मविप्रमोक्ष—अयोगी गुणस्थानमें उपान्त्य समय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

में ७२ प्रकृतियोंका और अन्तिम समयमें १३ प्रकृतियोंका विनाश होता है । अयोगकेवली अवस्थामें समुच्छिन्नक्रिय नामका ध्यान रहता है जिसका दूसरा नाम व्युपरतक्रियानिवृत्ति है, उसका अन्तर्मुहूर्त ही ठहराव रहता है । इसके बाद शरीरसे भी विमुक्त हो जाता है, कर्मोंसे विमुक्त हो जाता है । आत्माकी जो एक शुद्ध केवल अवस्था है, केवल स्वरूप है वह ही कहाँ रह जाता है । यों यह भगवान शरीरसे, कर्मोंसे रहित होते ही ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण लोकके शिखरपर जाकर विराजमान हो जाते हैं ।

सिद्ध भगवंतका धाम—लोग प्रभुका स्मरण करते समय सिर उठाकर स्मरण किया करते हैं । प्रभुसे कुछ बोलते समय ऊपर सिर करके बोला करते हैं । यह लोगोंकी आदत भी इस बातको सिद्ध करती है कि भगवानका वास लोकके शिखरपर है । कोई पुरुष भगवानकी याद जमीनमें नीचे निगाह गड़ाकर नहीं किया करता । प्रभु सिद्ध भगवन्त लोकके शिखरपर विराजमान हैं, इस कारण लोगोंकी प्रकृति सिर उठाकर ऊपर करके स्मरण करनेकी होती है । तो ऐसा बार-बार सिद्ध लोकका स्मरण किया, इस संस्कारके कारण समझ लीजिए कि सिद्ध होनेपर ऊपर ही वे जाते हैं अथवा संसारअवस्थामें संग बन्धन परिग्रहके कारण सर्व लेपोंके कारण यह संसारमें रुलता रहा है । अब संग हट गया तो संगरहित तूमीकी तरह जैसे कि तूमी मिट्टी आदिक परसंगोंके लेपसे रहित होनेपर पानीमें ऊपर उतरा जाती है, ऐसे ही यह भगवान एकदम लोकके शिखरपर पहुंच जाते हैं । बन्धनका छेद होनेसे जैसे एरन्डका बीज ऊपर ही जाता है यों ही कर्मबन्धका छेद होनेसे यह जीव लोकशिखरपर ही पहुंच जाता है अथवा जीवका स्वभाव ही यह है । वह अकेला शुद्ध निर्लेप रहे तो वह अकेलाका ही अकेला आ जाया करता है । यों प्रभु सब कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर लोकके शिखरपर विराजमान होते हैं ।

आत्मनिर्देशन—जैसा प्रभुका स्वरूप है ऐसा ही स्वरूप हम आप सबका है, इस ओर हम आप साहस करें तो हम आपकी भी स्थिति ऐसी ही विशुद्ध बन सकती है । करना तो यही चाहिए । ध्यान इस ओर ही रहना चाहिए । हम इन बाह्य प्रपंचोंमें मोह ममता न करें, इनकी अटक अन्तरमें न मानें । यह मैं तो सबसे निराला शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र हूं, ऐसा अनुभवका बल बढ़ायें, जिसके प्रसादसे संसारके संकट सदाके लिए समाप्त हो जायें ।

॥ इति पञ्चास्तिकाय प्रवचन पञ्चम भाग समाप्त ॥

http://www.jainkosh.org

Version 1